नई अक्षर

(राजस्थान के सृजनशील शिक्षकों का कथा सं

नई

(शिक्षा विभाग राजस्थान के लिए सूर्य प्रकाशन मंदिर द्वारा प्रकाशित)

अकबर

सम्पादक

डा. आलमशाह ख़ान

सूर्य प्रकाशन मंदिर बीकानेर

प्रकाशक
शिक्षा विभाग राजस्थान, बीकानेर
के लिए
सूर्य प्रकाशन मंदिर
बिस्सों का चौक, बीकानेर-334 001
संस्करण : प्रथम, 5 सितम्बर, 1986
मूल्य : इक्कीस रुपये पचास पैसे मात्र
आवरण चित्र : टी० काशीनाथ
आवरण व कला पक्ष : तूलिका
मुद्रक
कमल प्रिंटर्स
9/5866, गांधीनगर, दिल्ली-110 031
DHAEE AKKHAR
(Story Collection)
Edited by
Dr. Aalam Shah Khan
PRICE Rs. 21.50

आमुख

शब्द अपनी यात्रा स्वयं करते हैं, पर आज जो कुछ छप रहा है, वह कब प्रासंगिक होगा, इसे काल के अलावा कोई नहीं जान सकता। साहित्य में अभिव्यक्ति बाधित निर्णयो से ऊपर होती है। पक्ष-विपक्ष की यात्राएँ अपने युग के साथ उपराम ग्रहण करती हैं, तब साहित्य मे केवल वही शेष रह जाता है जो मानवीय होता है। मानवीयता के इसी सार्वभौम पक्ष को विविध रूपों में उजागर करने के लिए हमारे राज्य में शिक्षक अपनी रचनाधर्मिता को सँजोये वर्षों से आगे बढे चले जा रहे हैं। मुझे बताते हुए खुशी है कि हमारे सृजनशील-शिक्षक-साहित्यकारो की अब तक छियानवे पुस्तकें विभाग द्वारा प्रकाशित हो चुकी हैं।

5 सितम्बर, शिक्षक दिवस के रूप में पूरे राष्ट्र में मनाया जाता है। राजस्थान में शिक्षकों के लिए अपनी लेखन क्षमता को अभिव्यक्ति देने का यह अवसर है। इसी दृष्टि से आज के पुनीत पर्व पर शिक्षकों की पाँच कृतियाँ आप लोगों के हाथों में सौंपने का गौरव मुझे मिला है। हमारे प्रान्त के मनीषी साहित्यकारों ने इन्हें सम्पादित किया है। ये सभी साहित्यकार भारतीय साहित्य मे अपनी अनुपम देन के लिए विख्यात हैं। ये पाँच संग्रह इस प्रकार हैं :—

1. ढाई अक्खर (कहानी संग्रह) : सं० आलमशाह ख़ान
2. रेत का घर (कविता संग्रह) : सं० प्रकाश जैन
3. रेत के रतन (बाल-साहित्य) : सं० मनोहर प्रभाकर
4. रेत रो हेत (राजस्थानी विविधा) : सं० हीरालाल माहेश्वरी
5. बूंद-बूंद स्याही (गद्य विविधा) : स० पुरुषोत्तमलाल तिवारी

उक्त कृतियों में जो कुछ प्रकाशित हुआ है उसकी शक्ति और सामर्थ्य उन लेखकों की है और यह इन कृतियों मे निहित है। मुझे केवल इन्हें प्रस्तुत करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है और मैं साहित्य संसार के समक्ष इन्हें विनीत भाव से प्रस्तुत करता हूँ।

शिक्षक दिवस, 1986

(तारा प्रकाश जोशी)
निदेशक
प्राथमिक एवं माध्यमिक शिक्षा
राजस्थान, बीकानेर

सुनो भाई साधु

आधुनिक हिन्दी कहानी का इतिहास एक तरह से बीसवी सदी का ही इतिहास है, क्योंकि इसमें इस देश के परिवेश में जागी-जनमी समस्याएँ और आकांक्षाएँ, अपनी समस्त आशा-दुराशाओं के साथ चित्रित हुई हैं। आरम्भ में, समाधानों के साथ और आगे सकेतों-प्रतीकों के माध्यम से आधुनिक हिन्दी कहानी अपने जन्म से ही समय से बँध-बिंधकर अग्रसर हुई—अपने समय से वह न कभी कटी और न इसकी धारा से परे हटी। इस तरह से हिन्दी कहानी युगानुवाद बनकर पली और परवान चढ़ी है।

बीसवीं सदी के पहले और दूसरे दशक में लिखी जाने वाली आधुनिक कहानी की पगत मे आने वाली 'इन्दुमती' (सन् 1900), दुलाई वाली (सन् 1907), ग्राम्या (सन् 1912), उसने कहा था (सन् 1915), पचपरमेश्वर (1916) आदि सभी कहानियो मे अपने युग की धड़कन महसूस की जा सकती है और यदि देखें तो इनमें भावी हिन्दी कहानी की प्रवृत्ति-प्रकृति के सकेत भी नजर आते हैं, जहाँ इनमे नैतिक भाव, सबलता, आदर्शमय सोद्देश्य, सस्कार-शीलता लक्षित होती है वही 'उसने कहा था' कहानी मे, आने वाली कहानी के उस शिल्प-सौष्ठव एव शैली कौशल का भी पूर्वाभास हो जाता है जिसे उसने पाश्चात्य सम्पर्क से सीखा-साधा है। इस सम्बन्ध मे डॉ० गुलाबराय का बड़ा सटीक कथन है कि 'घर के बुने कपड़े के सूट की तरह कपड़ा हिन्दुस्तानी है लेकिन काट विलायती।'

आधुनिक हिन्दी कहानी के पुरोधा प्रेमचंद एक युगान्तर लेकर कथा-मंच पर अवतरित हुए। उन्होंने हिन्दी कहानी के कथ्य, शैली, शिल्प, प्रकृति और प्रवृत्ति को ही नही बदला अपितु उसकी समाज-दृष्टि और जीवन दर्शन मे भी इनक़लाब बरपा कर दिया। उन्होने हिन्दी कथा जगत मे खड़े किये गये

तिलस्म के तावूत को तोड़ा और उसमें फँसे अय्यारो के माया-जाल को काटकर उसे जासूसी षड्यन्त्रों से मुक्त ही नही किया अपितु उसे जीवन के यथार्थ से जोड़कर उसे अपने युग की सच्चाइयों का आलेख बनाया। उन्होंने कलात्मक ऊँचाइयों पर स्वस्थ जीवन-मूल्यों को तरजीह दी।

प्रेमचंद के देहावसान के बाद यशपाल, भगवतीचरण वर्मा, अमृतलाल नागर, सुदर्शन आदि कथाकारो के कथा आदर्श वही थे जिनका उन्नयन प्रेमचंद के हाथो हुआ था, अलबत्ता चौथे दशक में जैनेन्द्र, इलाचंद्र जोशी और अज्ञेय ने अलग रूप-रेखे की कहानियो का सृजन किया। प्रेमचंद के आदर्शोन्मुख यथार्थवाद से परे इन कहानियो ने एक नयी ही बात ली और अब समष्टि का स्थान व्यष्टि ने लिया। प्रेमचंद के पात्रो की यात्रा भीतर से बाहर की ओर होती थी वही जैनेन्द्र-अज्ञेय के पात्र अन्तर्मुखी हो गये—उनकी यात्रा बाहर से भीतर की ओर हो गयी। बाहरी दुनिया की टकराहटों के स्थान पर इन लोगों ने आतरिक जजालो को अपनी कहानियो का विषय बनाया। समाज-शास्त्र का स्थान मनोविज्ञान ने लिया और यों सामाजिकता पर वैयक्तिकता हावी हो गयी। घटना या घटना-सूत्रों के बजाय चरित्र, वातावरण एव स्थितियों को प्राथमिकता दी गयी। व्यक्तिवादी कहानियों का सरोकार सामाजिक समस्याओं से ना होकर वैयक्तिक अनुभवो से रखा जाने लगा। इसीलिए इनमें प्रेमचंद का वह बाग़ी स्वर नही सुनायी देता जो व्यवस्था और उसके पहरुओं को ललकारता है। अपनी कहानियों की शनाख़्त दर्ज करते हुए अज्ञेय ने लिखा है—'यहाँ कोई शाश्वत स्वीकृतियाँ नही माँगी गयी हैं, मानव से परे कोई मूल्य नही बाँधे गये हैं और मूल्यो को सामान्य आदमी से फूटते हुए पहचाना गया है—किसी काल्पनिक आदर्श पुरुष से नही।'

प्रेमचद के बाद लगभग दो दशकों तक यही 'व्यक्ति-वैचित्र्य' हिन्दी कहानी को आच्छन्न किये रहा। इसके आगे प्रगतिवादी कथा-धारा भी मंद हो गयी। किन्तु सन् 54-55 के आसपास कथाकारो की एक ऐसी पीढ़ी उभरकर सामने आयी जिसने पूर्व परम्परा से चले आये कथा-कलेवर और उसके रुझानों को एकदम नकार दिया और घोषणा की कि 'नयी कहानी' का किसी सिद्धांत विशेष की ओर झुकाव नहीं है, कि हर सिद्धांत, हर राजनीति, हर दर्शन,और सामाजिक ज़िम्मेदारी से उसे अलग होना है। 'नया कहानीकार किसी के प्रति प्रतिबद्ध नही होगा—होगा तो सिर्फ़ अपने प्रति।' 'नयी कहानी' आन्दोलन के तीन प्रमुख कहानीकारो—राजेन्द्र यादव, कमलेश्वर और मोहन राकेश में से राजेन्द्र यादव का यह कथन नयी कहानी के रुझान की खबर देता है। निर्मल वर्मा का कहना है कि कहानी के लिए किन्ही बड़े और विशिष्ट घटना-आयोजनो और उद्धृत पात्रों का जमावड़ा नही किया जाना चाहिए।

उन्होंने लिखा है—'पूर्ण संत्रास का संदर्भ किसी भी कथ्य द्वारा उद्घाटित किया जा सकता है—चाहे ड्राइंगरूमी किस्म का प्रसंग हो या आंगन में रेंगती धूप का टुकड़ा।' इसी स्वर में मोहन राकेश का कहना है कि—'टकरा जाने वाले हर व्यक्ति के पास सुनाने के लिए एक कहानी है। जिस राह पर दो चरण गुजर जाते हैं, उस राह के वक्ष पर—उन पग-चिह्नों पर एक कहानी लिखी जा सकती है।'

नयी कहानी की व्याख्या करते हुए, कमलेश्वर ने कहा कि, 'आज की कहानी घटनाओं का संपुंजन नहीं या कथानक का मनोवैज्ञानिक विकास भर नहीं, उसकी यात्रा घटनाओं या सयोगों मे से ना होकर प्रसगो की आंतरिक प्रतिक्रियाओं के बीच होती है और संवेदना के सूक्ष्म ततुओ पर धीरे-धीरे आघात करती हुई वह एक सम्पूर्ण अनुभव से गुजर जाती है, इसीलिए वह कथा-यात्रा नही पाठक के इस अनुभव से स्वय की यात्रा हो जाती है। नयी कहानी की यही उपलब्धि है कि वह अनुभव के धरातल पर सार्थक होती है वर्णन या कहानी के धरातल पर नही।'

नयी कहानी आंदोलन और उसके अलमदारो के धूम-धड़ाके देखकर कुछ और आन्दोलन सामने आये। ये आन्दोलन उठाये उन कहानीकारों ने, जो नयी कहानी के खेमे में अपनी साख नही बना पाये। अ-कहानी, सचेतन कहानी, सक्रिय कहानी, समानान्तर कहानी के आन्दोलन उभरे अवश्य पर ज्यादा चले नहीं।

कहा गया कि 'अपने समय के समानान्तर सोचना और लिखना ही समानान्तर लेखन है।' प्रतिबद्धता से आगे बढ़कर सम्पूर्ण सबद्धता को स्वीकार करना ही समानान्तर लेखन की अनिवार्य स्थिति है। समानान्तर लेखन के लिए अनिवार्य शर्त है कि लेखक वैयक्तिक-बिम्बो के मोह-जाल से उबर कर अपनी बात को सीधे और प्रत्यक्ष रूप से पाठको के सामने रखे। समानान्तर लेखक सामान्य जन के पक्षधर हैं, वे जीवन को न बहुत ऊँचाई से देखते हैं और न बहुत निचाई से बल्कि वे जीवन समानान्तर देखते हैं उनके लिए वाम चिरंतन हैं, उनकी कहानियाँ, आम आदमी की तकलीफ़ो के दस्तावेज है—एक सुनिश्चित बदलाव के लिए जन-सघर्ष के लिए समर्पित कहानियाँ हैं। प्रसिद्ध कहानी 'पत्रिका' सारिका के सम्पादक पद से हटते ही कमलेश्वर और उनके लेखक मित्रो के ये दावे आज विस्मृत हो चले हैं।

आज नवें दशक की अर्द्धालि को पार करते हुए आधुनिक हिन्दी कहानी जिस दिशा की ओर अग्रसर है [illegible]
नही किन्तु [illegible]
होकर या [illegible]

रही है। व्यवस्था और उसकी मारक परिस्थितियों को उसने न केवल विचार के स्तर पर अनुभव किया है अपितु इनसे जूझने के लिए उसने हथियार भी साध लिए है। आज की कहानियों में उकेरे गये पात्रों ने सवालिया तेवर अख्तियार कर लिए हैं और वे आक्रोश की मुद्रा में खड़े हैं अजब नहीं कि यदि व्यवस्था विधायकों ने अब भी उनकी सुध ना ली तो सम्भवत: ऐसी स्थिति आ जायेगी कि—

शीशे का घर नही रहेगा
या फिर पत्थर नही रहेगा।

प्रस्तुत कहानियों मे हिन्दी-कहानी का यही रचाव संपूर्ण संभार के साथ लक्षित है। आज के जीवन की विसगतियो, विषमताओं, विकलताजन्य विवशताओं और उनसे उभरी निरीहता को इनमें उकेरा गया है। जो आज के आदमी को, जड़ बनाकर एक ग़ैर बराबरी का उपेक्षित ही नहीं लांछित जीवन जीने पर उसे मजबूर किये हुए है। इससे कैसे भेंटा जाये ? त्रासद स्थितियाँ बनाने वाली व्यवस्था और उसके पहरुओं से कैसे निपटा जाये ? ऐसा क्या, कुछ और कैसे और किन पैमानों-पैरायों को अपनाकर किया जाये कि जिससे हमारे हिस्से में उपदेशों के साथ-साथ स्वाधीन-राष्ट्र की उपलब्धियाँ भी आयें—जिन को दुहाई हम पिछले दशकों से देते आ रहे हैं।

'छछिय भरी छाछ' पर रीझकर नाचने वाले त्रिलोकेश्वर आज इतने निष्ठुर क्यों हो गये कि 'गागर भर पानी' के लिए उनकी संतति को 'रेमणे' पर दम तोड़ना पड़ रहा है—गागर फिर भी रीती है। आखिर जल और जल-स्रोत व्यवस्था के रखवालों की चहारदीवारी में कब तक क़ैद रहेंगे जलधार कहाँ और कैसे गुनाहगार हो गयी और इसके चाहने वालों के हाथों कहाँ और कब गाय मार दी गयी कि उनके कण्ठ सिकता कर सुखा दिये गये—उन्होंने तो यदि कोई अपराध किया था तो बस इतना कि अपने में से ही किसी एक का मतों से अर्चन कर इसे प्रभुत्व-सम्पन्न बना दिया था। प्रभु-पुत्रों के किरीट-कुंडल उतारने की क्षमता क्या उन दलित-पीड़ित और छले गये हाथों में नहीं है ? है और अवश्य है। वह दिन भी आयेगा ही 'जब तख़्त गिराये जायेंगे/जब ताज उछाले जायेंगे'—फ़ैज़।

इसके लिए कौन-सी तैयारी हम देख रहे है ? क्या कुछ ऐसा हो रहा है जिसके रहते यह जग-व्यापी जड़ता अपनी जड़ों के साथ उखाड़ फेंकी जायेगी। गौर से देखें तो पायेंगे कि आज हम इंसान पर ही नहीं इंसानियत पर भी चोट किये चले जा रहे हैं। रोज हमारे सामने निरीह-जनों पर अन्याय भांजे जा रहे हैं और हम अपने निहित और नन्हे स्वार्थों को सहेजे आँख मूंदकर अपनी लीक पर चले जा रहे हैं। 'डाकू खड्गसिंह' जैसी भटकी हुई नैतिकता भी हमारे पास

नही कि जिसे सही रास्ते पर लाकर हम किसी दूसरे का जीवन संवार जायें। निरीह बालक पर तोड़े-जाने वाले ज़ुल्मो-सितम को देखकर 'चट्टानें' रूप बदल लेती हैं पर हम सभ्य-सुसंस्कृत-जनों के रूप नही बदलते। रूप बदलती चट्टानें' यही सब तो कह रही हैं पर अपने में डूबा आदमी तो 'चिकनी ज़मीन' पर खड़ा है। उस ज़मीन पर जिसके तल पर मरू पनपते है; हरियाले अंकुर तो नही फूटते। 'घर का आदमी' बना-जतला कर हमे बेघर किया जा रहा है—ऊपर से छोगा यह कि ऐसा करने वाले ही बेसहारा—लोगों के संगी साथी और कॉमरेड हैं।

आज द्वैत-दोगलापन आदमी की पहचान ही नही जात बन गया है। बात पूरमपूर ईमानदारी की कही जाती है। मंगल-सूत्र बेचकर 'पेपररवेट' जुटाने वाला 'व्यवस्था की कल' बनकर खुद पेपरवेट की दरकार करने लगता है। आखिर तो यह सिलसिला कहाँ खत्म होगा? हमारे देश का अदना-अपढ़ आदिवासी 'ज़िन्दा-गोश्त' बनकर कब तक सत्ता के बिचौलियो को परोसा जाता रहेगा? शोषण की चक्की में हम कब तक पिसते रहेगे? क्या कभी हमारी रगों में उसके खिलाफ़ उबाल या उफान भी जागेगा? और यदि जागेगा भी तो क्या हम उसे नैतिकता या इंसानियत के छींटे मारकर ठण्डा नही कर देंगे—'उफान और छींटे' कहानी मे इसी ओर संकेत किया गया है, इशारा गहरा है। हमारे देश के मिज़ाज मे बदलाव क्यो नही आता? अच्छे-सच्चे और नेक-दिल इंसान अपने ठियों से उखाडे जा रहे हैं जबकि लम्पट-लफंगे सच्चरित्रता का प्रमाण-पत्र पाकर तरक्क़ी पर तरक्क़ी किये चले जा रहे हैं। 'राज्यादेश' उनकी पुश्तपनाही कर रहे हैं। ऐसे ही खेलो के तहत 'नारी' 'शो-पीस की मछली' बनकर रह गयी है। वह स्वयं शिक्षित और कमाऊ है पर सहारे तलाश करती है—स्वावलम्बी होकर भी उसका मन पुरुषाश्रय चाहता है और यही वह ठगी जाती है। पुरुष उसे अपनाता भी है तो 'बस एक वादा' चाहकर उसे पूरी तरह जीत लेता है। और वह जीती जाकर भी स्वयं को सार्थक समझने का भ्रम पाले हुए निरर्थकता के बोध तले दबकर रह जाती है।

प्रस्तुत कहानियाँ जहाँ प्रायः अध्यापकीय आदर्श, नैतिकता और उपदेश-परकताजन्य हृदय-परिवर्तन पर आकर चुक गयी हैं; वही कही-कही इनमे मानवीय निर्ममता और नंगे यथार्थ को यों लाकर सामने रखा गया है कि पाठक की चेतना पर पत्थर से बरसने लगते है—उस सबको पढ़ समझकर। 'उसके लिए', 'दुआओं का व्योपार', 'अतीत का मूल्य', 'बेटी', 'और मैल धुल गया', 'बत्तास फैलो', 'लौटा हुआ सुख' आदि कहानियाँ जहाँ आदर्श-अनुबन्धित और 'बिगडे का सुधार' से अभिमंडित हैं वही 'घर के आदमी', 'ज़रा-सी अनौपचारिकता',

'पूरी बाँह का स्वेटर', 'चिड़िया और साँप' आज के आदमी की 'रहनी' और जीवन-शैली को सीधे-सीधे उघाड़कर हमारे सामने ले आती हैं। जिसे देखकर हमारे ज़ेहन में कुछ ऐसी तस्वीरें यो उभरती है। हमारे आसपास रहने वाले लोगों के चेहरे हमे याद हो आते हैं। कहानी की सफलता की कसौटी यही तो है आखिर !

भाषा-लालित्य, शैली-नैपुण्य, परिस्थिति-प्रसंग-वैचित्र्य या कि घटना-वैशिष्ट्य आज की कहानी के चित्य अभिधर्म नही रहे। उसमे तो अब सहज अनुभव-संकेत, अभिनव-अनुभूति-अभिव्यंजन एवं मानवीय समता-माधक विजयाकांक्षा और उससे बनी संघर्ष-चेतना अपनी परिपूर्ण प्रभा के साथ प्रभावी ढग से अंकित होती है। इस दृष्टि से भी यदि प्रस्तुत कहानियों को परखें-तो हमे एकदम निराश नही होना पड़ेगा। यद्यपि वहुतायत सवेदना-सदाशय एवं रूपवादी सूत्रो से बुन गयी कहानियो की ही है, जिनका लक्ष्य जीवन-मूल्यों को बनाये रखने का है—उन्हें तोडकर बिखेरने, रौदने का नही। किन्तु आज का भौतिकवादी-जन उन्हें एकदम निरर्थक और व्यर्थ क़रार देकर आगे बढ़ जाता है तो फिर ये कहानियाँ मात्र कहानियाँ बनकर ही किताब की क़ब्र मे दफ़न होकर नहीं रह जायेंगी ? इसलिए आज की कहानी को 'भूत-जगाने' का काम करना है, हाँ भूत जगाने का नही अपितु जागे हुए भूत के सामने इंसान को लाकर भी खडा करना है उसे। सिर्फ इतना ही नहीं नही भूत-भौतिकता पर इंसान की जीत का जयघोष भी करना है—इस तरह कि 'भूत' भी आश्वस्त हो जाये कि उसकी हार हो गयी है या कि वह पराजय के कगार पर खड़ा है।

प्रस्तुत कहानी संकलन को 'ढाई अक्खर' शीर्षक दिया गया है। वह इस-लिए कि सकलित कहानियो के कर्ता पोथियाँ पढ़कर अध्यापक-पंडित कहलाये हैं किन्तु मानवीय स्नेह-सहयोग, सौहार्द्र-सद्भाव, सौजन्य-संवेदन एवं समता-सदाशय, एक शब्द मे कहें तो, 'प्रेम' अर्थात् 'ढाई अक्खर' पढ़ समझकर ही असल में वे पंडित या गुरू-बड़े-बन पाये हैं।

(आलम शाह खान)

योगन-छाया
21, सुन्दरवास (उत्तरी)
उदयपुर (राज०)
313 001

कथा-क्रम

रेमणा : चुन्नीलाल भट्ट 17
रूप बदलती चट्टानें : कमला गोकलानी 22
घर का आदमी : जगदीश प्रसाद सैनी 27
चिकनी ज़मीन : माधव नागदा 34
ज़रा-सी अनौपचारिकता : निशान्त 39
शो-पीस की मछली : वासुदेव चतुर्वेदी 42
चरित्र-प्रमाण-पत्र : देव प्रकाश कौशिक 47
उफान और छींटे : विशन स्वरूप 51
ज़िंदा गोश्त : सत्य शकुन 57
चिड़िया और सांप : भगवतीलाल व्यास 63
वापसी का सुख : ब्रजेश 'चंचल' 67
पूरी बाँह का स्वेटर : ब्यूला एस० कुमार 70
संकल्प : पुष्पलता कश्यप 73
राज्यादेश : छगनलाल व्यास 76
घर के आदमी : जनकराज पारीक 80
एक मुश्त ख़ाक : नील प्रभा भारद्वाज 84
माँ ! तुम कैसी माँ हो : सुदर्शन राघव 91
उसके लिए : अरनी रॉबर्ट्स 95
बस एक वादा : मुकारब खान 'आज़ाद' 102
कहाँ शुरू कहाँ ख़त्म : मोहनलाल सूत्रधार 110
पहेली : श्यामसुन्दर भारती 116
पेपरवेट : मोहनकुमार चतुर्वेदी 125
दुआओं का व्योपार : विष्णुप्रसाद चतुर्वेदी 129
अतीत का मूल्य : शिव मृदुल 131

और मैल घुल गया :	पी० राज० 'निराश'	134
टूटता बाँध :	अर्जुन 'अरविंद'	139
कुबड़ी :	ओम् पुरोहित 'कागद'	146
महके सपन गुलाब से :	चन्द्रकला पारीक	151
मकड़ी :	रघुनन्दन त्रिवेदी	154
बेटी :	जितेन्द्र शंकर बजाड़	158
अगला क़दम :	सुषमा अग्निहोत्री	161
क्लॉस फैलो :	बुलाकीदास 'बावरा'	168
लौटा हुआ सुख :	दिनेश विजयवर्गीय	176

लाई
अक्खर

रेमणा

□

चुन्नीलाल भट्ट

सवेरे की आठ बजने आयी। विधायक गौतम अहारी के बंगले का फाटक अभी तक नही खुला था। दो घण्टे से मोहल्ले की औरतें बगल मे खाली घड़े दबाये फाटक की ओर ताकती खड़ी थी। अब थककर घड़े उन्होने अपने पैरो के पास रख दिये। *लम्बी पंक्ति बन गयी थी। रीते घड़ों की।*

साहब का नौकर कालिया, मेमसाहब के विदेशी नस्ल के कुत्ते को खास क़िस्म के साबुन से रगड़-रगड़कर नहला रहा था, चारदीवारी के अन्दर लगे हेण्डपम्प पर।

सावित्री सवेरे ही आकर फाटक के पास खड़ी हो गयी थी। सोचा था—जल्दी दो-तीन घड़े पानी भर लेगी। दिन भर पीने के पानी की झंझट तो मिटे।

वैसे कालिया रोज सवेरे पांच बजे ही फाटक खोल देता था, बस्ती के सभी लोग इसी हेण्डपम्प से पानी भर लेते थे। कालिया किसी को ना नही कहता।

लेकिन आज उसने फाटक नही खोला।

साहब और मेमसाहब दोनों राजधानी से कल यहाँ आ गये थे। रात देर तक लोगों का जमघट लगा हुआ था बगले पर। कुछ खास लोग तो खा-पीकर लगभग तीन बजे यहाँ से निकले होंगे।

'काका!' सावित्री ने दो घण्टे के लम्बे इन्तजार के बाद—मुँह खोला। फाटक खोलो न काका···बहुत देर से खड़े हैं।'

'कालिया ने सिर ऊँचा किया। फाटक के सामने लगी लम्बी पंक्ति को देखा। *पैरों के पास खाली पड़े मिट्टी के कलसों-घड़ों को देखा। उनकी आँखों मे दया* थी।

लेकिन एकाएक दृष्टि बगले की ऊपरी मंजिल की बालकनी मे जा अटकी। वह सहम गया। मेमसाहब बालकनी के खम्भे के सहारे बडी अदा से खड़ी इस नजारे को देख रही थी। उनके घुँघराले बालो की अस्त-व्यस्त लटें हवा मे लहरा रही थी।

कालिया कुछ नही बोला। चुपचाप फिर से अपने काम मे लग गया।

'कालू !' मेमसाहब का सम्बोधन था यह। साहब के विधायक बनने के बाद पचास वर्षीय 'कालिया' कालू बन गया था।

'जी सरकार !' कालिया भी विधायक बनने के बाद साहब और मेमसाहब को ···जी···सरकार···जी हुजूर·· कहने लग गया था।

साहब के विधायक बनने से पहले भी कालिया उनके घर काम करता था। लेकिन प्रत्युत्तर में हुजूर···सरकार जैसे सम्बोधन नहीं थे तब। यह सब तो राजधानी से लौटने के बाद ही सीखा है उसने। विधायक बनते ही साहब कालिया को अपने साथ राजधानी ले गये थे। चार माह वहीं रखा। जैसे ही सरकारी टहलुओं की भरमार हो गयी, कालिया को वापस यहाँ भेज दिया। यहीं इसी बंगले के बाजू में बनी बित्ता भर कोठरी में रहता है।

'देख !' मेमसाहब गरजी। 'फाटक वाटक मत खोलना। इन सबको भगा यहाँ से। साहब सोये हैं। नींद उड़ जायेगी उनकी।'

'जी सरकार !'

'सुबह ही सुबह ऐसे आ धमके हैं जैसे इनके बाप का ही यह हेण्डपम्प।' मेमसाहब बड़बड़ाईं।

कालिया कुछ नहीं बोला।

'और देख ! टोनी को अच्छी तरह नहलाना···रगड़-रगड़कर' टोनी—मेमसाहब के विदेशी कुत्ते का नाम है। हर समय अपने साथ रखती हैं। बड़ा प्रेम करती है इससे।

मेमसाहब अंदर चली गयी। कालिया फाटक पर आया। विनम्र भाव से बोला—'आज जाओ···कहीं और भर लेना पानी···मेरी रोजी का सवाल है··· फाटक नहीं खोल सकता···साहब सोये हैं···मेमसाहब का हुक्म है···।'

सावित्री कुछ बोल नहीं सकी। दोनों घड़े उठाये···और बगल में दबाकर चल पड़ी···उसी राह पर···जहाँ साल भर पहले रोज जाती थी···सूर्योदय से पूर्व··· ···अपनी प्यारी-सी नन्ही गुड़िया सन्नो के संग।

बस्ती का मुर्गा बाग देता कुकड़ूँ···कू कू···। माँ के साथ सन्नो भी उठ जाती और बगल में ताँबे का नन्हा घड़ा दबाये निकल पड़ती पानी भरने कुएँ पर।

बस्ती से एक किलोमीटर दूर खेतों में कुआँ था—एकमात्र। पूरी बस्ती इसी कुएँ पर ही पानी भरने आती थी। फागुन माह तक तो ज्यों-त्यों पानी मिल जाता लेकिन बाद में तो आठ-नौ बजते-बजते ही पैंदा निकल आता—तब लोगों को कुए के पैंदे में बैठकर प्यालियों से पानी भरना पड़ता, अपने-अपने मटकों में। आधा कीचड़ आधा पानी···वही अमृत तुल्य था उनके लिए तो···।

धीरे-धीरे सावित्री अपने अतीत में खोती गयी···खोती गयी।

साल भर ही हुआ होगा। उस दिन सावित्री को अपने मायके जाना था—छोटे भाई की शादी में। गुड्डो भी अपने मामा की शादी में जाने के लिए सवेरे जल्दी ही उठ गयी थी। उठते ही माँ-बेटी दोनों सीधे कुए पर जा पहुँची। मुर्गा भी नहीं बोला था अभी तो।

कुए पर पहुँची तो वहाँ कोई नही था। एकदम सन्नाटा। अँधेरा छंटा नहो था। मेंढकों की टरटर्राहट ने वातावरण को डरावना बना रखा था।

'सन्नो! डरनो नाही बेटी···आ तो डेड़का (मेंढ़क) टर्र-टर्र करे हैं हो···' साड़ी कमर से लपेटती हुई सावित्री ने अपनी बेटी को—समझाया। 'आज तो वावड़ी पर कोई नी आयो···आपणा थी पेला···वाटली (प्याली) थी पाणी नाही भरवो पड़ेगा आपणा माटला (मटका) मा···आज तो घुंड़ा तक (घुटने तक) पाणी है···माटलो—डूवाड़ी झटपट भर लेवंगा पाणी—' सचमुच खुश थी वह। इसलिए कि कुए पर आज पहले आयी थी। पैंदे मे बैठकर कटोरी से पानी नही भरना पड़ेगा आज; और लौट जायेगी अपने घर जल्दी ही।

'चाल आ···सँभलने उतरनो···' सन्नो की कलाई थाम सावित्री सीढियाँ उतरने लगी।

वीस-बाईस सीढ़ियाँ थी पत्थर की। अन्त में एक 'रेमणा' था—चौडे पत्थर की बडी सीढी। रेमणे से पैंदे तक पहुँचने के लिए लकडी की बीस फुट की नसेनी (सीढ़ी) लगी हुई थी। लोग इसी नसेनी के सहारे कुए में पैंदे तक पहुँचते थे।

'देख बेटी···तू अठे ही रेमणे पै उभी रे, तारे चलो नीचे नहीं उतरी सकाय···अंधारो है···तारा घड़ो मैं भर लाऊँ···' समझाकर सन्नो को रेमणे पर रोक लिया सावित्री ने और स्वय लकड़ी की सीढी से उतरने लगी। अँधेरे में ही उसके अभ्यस्त पैरों को सीढ़ियाँ उतरने मे कोई अड़चन नही आयी। धीरे-धीरे एक-एक सीढ़ी थामती ठेठ पैंदे तक पहुँच गयी। घुटनो तक पानी था। लेकिन ज्यो ही पीतल का घड़ा पानी में डुवाया त्यो ही धडाम से पानी मे किसी के गिरने का धमाका हुआ। सावित्री के मुँह से चीख निकल पडी। उसे समझने में देर न लगी। अँधेरे में अपने ही पैरो के पास पडी अपनी बेटी को पानी में से निकाला। कन्धे पर डाल लकड़ी की नसेनी चढ़ गयी। यह सब कुछ ही क्षणों मे घट गया। सहमा उत्पन्न यह साहस सावित्री और सन्नो को ठेठ रेमणे तक ले आया। लेकिन रेमणे से आगे नही बढ पायी सावित्री। निढाल होकर वही गिर पडी। वह सुन्न थी···हाथ-पैर ठंडे थे···घवराहट से सारा बदन काँप रहा था···सन्नो उसकी छाती से चिपकी पडी थी···कुएं में एकदम सन्नाटा था···पैंदे मे ताँबे-पीतल के घड़े उथले पानी पर तैर रहे थे।

कुछ देर बाद एक-दो महिलाएँ पानी भरने आयी। तब तक अंधकार थोडा छँट चुका था। महिलाएँ ज्योंही कुएं मे उतरी, रेमणे पर पड़े [illegible] को देखकर डर

गयी। भागकर बाहर आयी और जोर-जोर से चिल्लाने लगी—'दौड़ो···दौड़ो···कोई हो तो···अरे रेमणे पर लाशें पड़ी हैं···।'

थोड़ी ही देर मे लोगों का जमघट लग गया कुए की जगत पर। अब तक अँधेरा पूरी तरह छट चुका था।

सावित्री अपनी बेटी को छाती से चिपकाये बेहोश पड़ी थी। सन्नो के सिर से खून बह रहा था। सावित्री का सारा बदन खून से लथपथ था। खून का रेला बहकर बूँद-बूँद कुएँ के पानी मे गिर रहा था।

माँ-बेटी को चारपाई पर डालकर लाया गया। वैद्य आया। सावित्री तो जैसे-तैसे होश मे आयी लेकिन सन्नो विदा हो चुकी थी···अपनी माँ से···हमेशा-हमेशा के लिए···।

सावित्री पसीने से लथपथ थी। आँखें आँसुओ से तर थीं। मात्र एक किलोमीटर की दूरी उसके लिए सौ कोस हो गयी थी। हाँफती हुई कुए की सीढ़ियाँ तो उतरी लेकिन वहीं रेमणे पर आकर बैठ गयी।

उसके कानो से कालिया के शब्द टकराने लगे—'आज जाओ···कहीं और भर लो पानी···मेरी रोजी का सवाल है···फाटक नहीं खोल सकता···मेरी रोजी···फाटक···हेण्डपम्प···धीरे-धीरे कालिया ओझल होता गया···और गौतम अहारी प्रतिबिम्बित होने लगा···वही विधायक अहारी···उस दिन···विधायक बनने से पूर्व वह गिड़गिड़ा रहा था यों ही—''बहन! एक बार मौका दे दो······तुम्हारी गुडिया की तरह अब कोई और गुडिया नहीं मरेगी पानी के लिए···नन्ही गुडियों को कहीं किसी कुएँ पर पानी भरने नहीं जाना पड़ेगा···जगह-जगह हेण्डपम्प लगवा दूँगा···बस एक बार एकजुट होकर वोट दे दो मुझे···विधायक बनने पर देख लेना···क्या-क्या करता हूँ मैं इस बस्ती के लिए···।'

उस रोज सच भी लग रहा था। बस्ती मे एकमात्र हेण्डपम्प उसी की बदौलत ही लग पाया था—उसके विधायक बनने से पहले।

सन्नो की मौत अहारी के लिए वरदान बन गयी थी। उसमें छिपी—नेतृत्व-क्षमता उस दिन एकाएक जाग्रत हो गयी थी। सन्नो की लाश को अपने कंधे पर लादे सीधे जिलाधीश कार्यालय के सामने धरना देकर बैठ गया था। उसके पीछे पूरी बस्ती थी। जिलाधीश ने अकाल मृत्यु पर सवेदना व्यक्त की और तत्काल बस्ती मे हेण्डपम्प खुदवाने का आदेश दे दिया।

गौतम अहारी के घर के सामने ही हेण्डपम्प लग गया। पानी भी अच्छा मिल गया। पूरी बस्ती उसी मे पानी भरने लगी। दूर कुए से—पानी लाना छूट गया। लेकिन गौतम का नेतृत्व जड़ पकड़ गया। धीरे-धीरे उसने अच्छी साख जमा ली।

तीन माह बाद विधानसभा चुनाव थे। जातिगत सुरक्षित कोटे का लाभ

शिक्षित और जागरूक गौतम को मिल गया। भारी जनसमर्थन ने गौतम अहारी को विधायक गौतम अहारी बना दिया।

समय ने पलटा खाया। विधायक अहारी सपत्नीक राजधानी में रहने लगे। वहीं से जारी मौखिक आदेशों से उनकी अनुपस्थिति मे उनके पुराने खपरेल की जगह एक खूबसूरत बगला बन गया। बगले के चारो तरफ आठ फीट ऊँची चार दीवारी बन गयी···चारदीवारी में बडा-सा लोहे का फाटक लग गया···और तब बस्ती का वह एकमात्र हेण्डपम्प इसी फाटक के अंदर चारदीवारी के भीतर चला गया और वहीं क़ैद होकर रह गया।

सावित्री का ध्यान भग हुआ। चौड़े रेमणे पर अपनी हथेली फेरने लगी··· यही चौड़ा पत्थर···'रेमणा'···मजबूत सीढ़ियों और कमजोर नसेनी के बीच का मन्धि-स्थल···सब क्षण भर के लिए रुकता है इसी रेमणे पर, सीढियाँ उतरने के पश्चात और चढने से पूर्व···।

लम्बा नि.श्वास छोड़ते हुए रेमणे से कुए मे झाँककर देखा—लकड़ी की नसेनी अस्त-व्यस्त हो एक ओर खिसकी पड़ी है···पानी की सतह पर, पास के बरगद के पेड़ से गिरे सूखे पत्ते, तैर रहे हैं···। सावित्री को लगा—उसकी सन्नो इन सूखे पत्तों की नौका पर बैठी उथले पानी में तैरती पुकार रही है··· 'माँ ! माँ !!··· *आ जाओ···कूद पड़ो···यही सीधा रास्ता है,* रेमणे से···ऊपर की *सीढ़ियाँ* चढ़ नहीं पाओगी···माँ···माँ···मैं अकेली हूँ···कूद पड़ो···अपनी नन्ही बाँहो मे झेल लूंगी तुम्हें··माँ · माँ···माँ···।'

●

रूप बदलती चट्टानें

□

कमला गोकलानी

अजमेर में सँधरा अप-डाउन करते मुझे पाँच वर्ष व्यतीत हो चुके हैं। इस अवधि में विद्यार्थियों सहित नौकरी अथवा धंधा करने वाले नवयुवकों की अनेक अश्लीलताएँ करते देखा है मैंने।

रेलगाड़ी के आरक्षित डिब्बे तो गोया इन्होंने ख़रीद रखे हैं। कोई टी० सी० या मुसाफिर उन्हें कुछ नहीं कह सकता। ब्यावर तक सबको खड़े रहने का दण्ड मिलता है। साधारणतया बस आदि में किसी महिला को खड़े हुए देखने पर शिष्टाचार के नाते उठकर उन्हें जगह दी जाती है, पर यहाँ गोद में बालक लिये हुए भी कोई महिला खड़ी हो तो दुष्टों को तरस नहीं आता, ऊपर से ठहाके लगाते रहेंगे। फिर इतने से ही शान्त रहें, तो भी गनीमत। ऊपर बर्थ पर बैठकर यात्रियों के खाने के टिफिन खाली कर देंगे, ठण्डे पानी की बोतलें और सुराहियाँ भी ब्यावर तक औंधी।

कल उस बंगालिन बहिन को कितना परेशान किया। वह अपने पाँचों बच्चों सहित भुज से देहली जा रही थी। मैं भी पास आकर बैठी कि ब्यावर से लड़कों का समूह हो-हुल्लड़ करता आ धमका। वह बोली, 'महिलाओं के डिब्बे में बैठने नहीं दूगी' पर कहाँ सुनते हैं ये किसी की। उसका सामान एक-दूसरे के ऊपर फेंकते हुए, बर्थ पर जाकर बैठे। बंगाली बहिन की जवान बेटी भी उसके साथ थी, बेचारी ने खूब हाय-हाय की, पर कुछ असर नहीं हुआ। जो लड़के नीचे खड़े थे उन्होंने सिगरेट पीकर, धुआँ उड़ाना शुरू कर दिया। फलस्वरूप दम घुटने लगा। फिर सब मिलकर, चीख़-चीख़कर गाना गाने लगे, मतलब एकदम उच्छृंखलता और बेशर्मी का साम्राज्य। वह क्रोध से बोली, 'एक तो आपको लेडीज़ कोच में बैठना ही नहीं चाहिए, पर कम से कम, अश्लील गाने गाना और सिगरेट पीना तो बंद करो।'

सभी ठहाके मारते हुए बोले, 'क्यों, गाड़ी आपने खरीद ली है क्या ? यदि इतनी ही नज़ाकत है तो जाकर प्रथम श्रेणी या वातानुकूलित कोच में बैठो।'

'पर आप पढ़े-लिखे समझदार युवक हैं, रोजाना गाड़ी से आते-जाते हैं, कभी

पढ़ा नहीं कि यात्रियों की सुविधा व आराम का ध्यान रखें, धूम्रपान न करें।'

उनमें से एक धृष्ट हँसी हँसकर बोला, 'बहिन जी, लिखा तो जाने कहाँ-कहाँ, क्या-क्या रहता है, पर कौन ध्यान देता है उस पर ? देखिये जगह-जगह लिखा रहता है'''दो या तीन बच्चे बस ! फिर क्यों आपने पाँच बच्चों की लाइन लगा ली ?'

मैं तो सुनते ही पानी-पानी हो गयी। सोचा फटकार दूं कि किसी शरीफ औरत को क्यों परेशान किये जा रहे हो ?—पर जानती हूँ, परिणाम कुछ नहीं निकलेगा। फिर मेरा स्थानान्तरण जाने कब हो, तब तक इन्हीं से निभाए रहना कल्याणकारी है। समय आने पर यही लोग हमारे बचाव के लिए वरजोर यात्रियों से टक्कर लेते हैं।

खैर, यह सब देखने की तो आदी बन गयी हूँ पर आज जो कुछ हुआ, उस स्थिति में भी मूक तमाशबीन बनकर देखे जाना यह साबित करता है अब इन्सानियत मर चुकी है, खून पानी बन चुका है। संवेदना, मानवता घोर स्वार्थ व अज्ञात भय की आग में सुलग रहे हैं—और मैं तो नारी हूँ कोमल-हृदय, साथ-साथ अध्यापिका भी, जिसका उद्देश्य ही है चरित्र-निर्माण। पर आज उद्देश्य कौन सुनता है ? सौदेबाजी चल रही है। पैसों के एवज में शिक्षा देते हैं, कर्त्तव्य का भाव तो है ही नहीं। पिताजी अध्यापक थे। उनका यह रुतबा था कि गली से गुजरते समय मनचले जुआरी छात्र उनसे मुँह छिपाते फिरते थे, सामने पड़ने पर पाँव छूकर मिलते थे। पर अब अध्यापक पर छींटे कसे जाते हैं और आज की घटना ने तो मेरे अध्यापिका होने पर भी प्रश्न-चिह्न लगा दिया।

छोटे से शीतल को मैं अच्छी तरह पहचानती हूँ—बारह वर्ष का यह बालक जब गले में दाल का खोमचा लेकर चलती गाड़ी में एक डिब्बे से दूसरे में जाता है तब मेरे बदन में कँपकँपी सी होने लगती है, भगवान न करे कभी पाँव फिसल जाये, सतुलन बिगड़ जाये तो'''तो'''क्या होगा ? दो वर्ष से वह इसी गाड़ी में दाल व बिस्कुट बेचता है।

एक दिन पूछा था उससे मैंने 'क्यों तुम इस खेलने-खाने और पढ़ने-लिखने की उम्र में, रेलगाड़ी में धक्के क्यों खाते हो ?'

अनजाने ही उसकी दुखती नस को छेड़ बैठी थी, आर्द्र नेत्रों से बोला था, 'दीदी ! क्या करूँ ? पिताजी अधिक शराब पीने से कैंसर के शिकार हो गये थे। घर के गहने और सामान बेचकर उनका इलाज करवाया गया, पर दो बहनों, एक भाई और माँ का बोझ मेरे कच्चे कंधों पर छोड़कर वे चल बसे ! बेचारी माँ घर में सिलाई करके और पापड़ वगैरा बनाकर कितना कमा सकेगी ? इसलिए मजबूरन पढ़ाई अधूरी छोड़कर मुझे कमाने का यह तरीका अपनाना पड़ा।'

उसकी मासूमियत, निरीहता और दीनता और ऊपर से कड़ी मेहनत को देख

कर शायद पत्थर भी पानी बन जाये, पर इन नामुरादों में हमदर्दी या सहानुभूति के जज्बात तो जैसे है ही नहीं। इसीलिए साधारणतया जिस डिब्बे में ये लड़के होते हैं उसमें लगभग सभी खोमचे वाले आने से हिचकिचाते हैं, पर जाने किस कुबेला में उस बालक ने इस डिब्बे में पाँव रखा। उन लड़कों में से एक ने कहा, 'ऐ लड़के! सबको चटपटी-मसालेदार नीबू वाली दाल खिलाओ।'

हुक्म की तामील करते हुए 'शीतल' ने सोचा आज शीघ्र ही ग्राहक मिल गये, समय से पूर्व घर जाकर पैसे माँ की हथेली पर रखूंगा। अतः उत्साहपूर्वक उसने दाल कागज में फैलाकर, उसमें प्याज, मिर्चों, धनिया अन्य मसाला तथा नीबू डालकर प्रत्येक लड़के को देना शुरू किया। सब ठहाके मारकर खाते रहे। 'शीतल' द्वारा पैसे माँगने पर बोले, 'तुझे नहीं मालूम! आज तक किसी ने हमसे पैसे माँगने की हिम्मत नहीं की—चुपचाप आगे बढ़।'

खून पसीने की कमाई को हाथ से जाता देख शीतल का खून खौल गया। बौखला कर बोला, 'क्यों भाई पैसे क्यों नहीं दोगे? अपने दिल पर हाथ रखो। महीना भर परिश्रम के बाद तुम्हें पगार नहीं मिले तो बर्दाश्त करोगे? मुझ गरीब के पैसे खाकर तुम्हें क्या मिलेगा?'

'हः···हः···हः समझता है। हाई वाल्यूम में बोलकर हमें डरा देगा? बच्चू, जा-जा, इन तिलों से तेल निकलने वाला नहीं। भला चाहता है तो चुपचाप खिसक ले। वरना खोमचे सहित नीचे होगा···समझा।'

शीतल बात काटते हुए बोला, 'कैसे फेंक दोगे? दादागिरी है क्या? हराम का नहीं खाता, अपने माल का मोल माँग रहा हूँ कोई दान नहीं।'

'पर तू करेगा क्या? नहीं देते पैसे, जिसे चाहे बुला ले!'

संवेदनशील-स्वभाव होने के नाते मेरे अन्दर का इन्सान मुझे दुत्कारने लगा कि कुछ कहती क्यों नहीं? यों दिन-दहाड़े होने वाला अत्याचार तुम्हारा भावुक हृदय किस तरह बर्दाश्त कर रहा है? विद्यालय में तो नैतिक शिक्षा पर खूब भाषण दिया करती हो।

फिर मुझ पर व्यावहारिक अध्यापिका वाला रूप हावी हो गया कि कौन इन नालायकों के मुंह लगे। कल मुझसे ही कोई अश्लीलता बरते तो···रेल के इस अजनबी-पराये वातावरण में किससे फ़रियाद करूँगी?

शीतल की ओर निगाह पड़ते ही पुनः तरस आया। यह सोचते ही आतंकित हो गई कि ये लोग अगर सचमुच ही इसे धक्का दे देंगे तो···फिर इसके परिवार का क्या होगा? कौन उनकी परवरिश करेगा? मुझे बीच-बचाव करना ही चाहिए। सोचते-सोचते मेरा मस्तिष्क चकराने लगा। शीतल व लड़कों के मध्य बोले जाने वाले शब्द बारूद बनकर मेरे कानों में धमाके करने लगे। स्वयं को रोक पाना कठिन हो गया मेरे लिए। विवेक की तलवार को खुदगर्जी की ढाल देते हुए

सोचा—आखिर किस-किस की चिन्ताएँ करूँगी ? अप-डाउन करते ऐसे हजारों किस्से होते रहेंगे—डिब्बे में अन्य यात्री भी तो हैं, सभी खामोश तमाशबीन बने हुए हैं, मैं ही पागलों की तरह सोचे जा रही हूँ।

लड़कों की हा···हा···हू···हू···जारी थी। शीतल ने अब अपने स्वाभिमानी स्वर को परे कर नम्रता से बात करना आरम्भ कर दिया था—एकदम विचार कौंधा—क्यों न मैं अपनी तरफ से शीतल को दस रुपये देकर झगडे की जड को ही समाप्त कर दें ? नोट निकालने के लिए पर्स खोला, पर मेरे व्यावहारिक मन ने फिर तर्क किया यों कितने शीतलो को बचाने के लिए नोट कुर्बान करती रहोगी ? शीतल तुम्हारा कौन लगता है ? सम्भव है शीतल स्वयं ही लेने से इन्कार कर दे। और यूँ विचारों में डूबते-उतरते ब्यावर आ गया।

शीतल रुँआसी आवाज में बोला, 'भाई लोगो, मेहरबानी करके मुझ गरीब के पैसे देकर जाओ मेरे छोटे भाई-बहन उम्मीद भरी आँखों से मेरी राह देखते होगे। मुझ पर नही तो मेरी विधवा माँ, भाई व बहिनो पर तरस खाओ।'

'अच्छा ! बहिन भी है तुम्हारी। फिर तुझे गिडगिडाने की क्या जरूरत है बच्चू ? पैसे चाहिये···हा···हा···बोल बे···कितने···?

बालक होते हुए भी शीतल अपनी इज्जत-गैरत को ललकारा जाना बर्दाश्त नही कर सका और क्रोधित होकर उसने एक लडके का गिरेबान पकड लिया। अब तो लडको की क्रोधाग्नि मे घी पड़ गया। शीतल को पकड़कर उसके कमजोर जिस्म पर लातो, मुक्को की बरसात शुरू हो गयी। पैसे तो मिले नही, जान ही आफत मे फँस गयी। शीतल का दाल का टोकरा नीचे फेंक, ठहाके लगाते हुए वे बोले—'अब कूदकर जमीन से पैसे वसूल करो। बस ब्यावर आ गया।··· बाई; सी···यू···।' और सब ही···ही···करते हुए चलते बने।

एक बेगुनाह को गुनहगार यो पीटते रहे, उसे लूटकर चलते बने, पर सभी यात्री खामोश रहे। मैं आश्चर्य मे डूबती चली गई कि आखिर समाज को यह क्या हो रहा है ? मर्यादा और शिष्टाचार तो अब दन्तकथाओ तक सीमित रह गये हैं—और दूसरो को क्या दोष दूँ ? मैंने कौन-सा विवेकानुसार आचरण किया ?

और यों देखते-देखते सेंधरा की मनमोहक चट्टानें आ गयीं। साधारणतया ब्यावर के बाद किसी से बात करना या सोचना अच्छा नही लगता, जी चाहता है प्रकृति के इस बेपनाह सौंदर्य को नेत्रो मे बसा लूँ। कोई चट्टान ब्रह्मा, कोई विष्णु कोई महेश तो कोई अजंता ऐलोरा की कला-कृति सी प्रतीत होती है। किसी में गणेश दिखते, किसी में माँ सरस्वती, कोई साहस का संदेश देती, कोई अडिगता का।

किन्तु आज···प्रत्येक चट्टान मुझे घूर रही है—दुत्कार रही है कि मास्टरनी, तेरी इन्सानियत कहाँ गयी ? तूने क्यो इस कदर अत्याचार होते देख-

कर भी अपने होंठ सी लिये ? और अब अनायास कोई चट्टान शेर बनकर गरज रही है, कोई साँप की तरह फन उठाकर डसने को तत्पर है, कोई मगरमच्छ की तरह मुझे निगल जाना चाहती है, कोई बाघ की तरह घूरे जा रही है। ये निर्जीव पत्थर मुझे क्यों डरा-धमका रहे हैं ? मैंने स्वय तो शीतल का कुछ नहीं बिगाड़ा ? मुझमे क्यों अपराध बोध बढता जा रहा है ? क्यों हो रही है मुझे इतनी बेचैनी ? समझ मे नही आता कि मैंने अक्ल से काम लिया या बदनीयती से ? शीतल की तो हड्डी-पसली एक कर दी थी नामुरादों ने। स्कूल समय पर पहुँचना था वरन् ब्यावर उतरकर उसके घर तो ख़बर कर आती। वह स्वय कैसे जा पाया होगा ?

अब आत्मा को कचोटने वाले ये प्रश्न मुझे निरन्तर पीडित किये जा रहे हैं। *शीतल शारीरिक हिंसा का शिकार हुआ है, पर मानसिक हिंसा की तो मैं भी* शिकार हूँ। कितना उत्पीड़ित महसूस कर रही हूँ मैं स्वय को, पर कोई समाधान भी तो नही है मेरे पास, सिवाय इसके कि सौंदर्य बोध का अभिवर्द्धन कराने वाली इन खूबसूरत चट्टानों का यह आक्रामक रूप देखूं और झेलूं इस मानसिक हिंसा को।

घर-का आदमी

□

जगदीश प्रसाद सैनी

'मास्टर साहब बधाई ! आपका महँगाई भत्ता बढ़ गया है।' सुबह धूप में कुर्सी डाल अखबार पढ़ते कॉमरेड साहब का बुलन्द कॉमरेडी स्वर मुझे अपने कमरे में स्टोव की धूँ-धूँ के बावजूद सुनाई पड़ जाता था। शायद कॉमरेड साहब नहीं जानते थे कि मैं ऐसा मास्टर साहब था जिसके लिए सिर्फ महँगाई ही बढ़ती थी, महँगाई भत्ता नहीं। जिसे गाँव में खेती-बाड़ी करके गुजारा करने वाले गरीब बाप ने सोलह साल तक पढ़ाई पर एक साल तक ट्रेनिंग पर और दो साल तक नौकरी के फार्म आदि भरने पर खर्चा करने के बाद कभी मुँह न दिखाने की हिदायत के साथ घर से परे कर दिया था—जो अब इस शहर में आकर, दर-दर की ठोकरें खाने के बाद, बावजूद फर्स्ट क्लास एम० ए०, बी० एड० होने के, और बीसियों ऐक्स्ट्रा को—केरीकुलर एक्टीविटीज के प्रमाण-पत्रों का वजन ढोने के, उस एडेड 'इंगलिश मीडियम' स्कूल में ढाई सौ रुपये महीने पर लगा हुआ था। जिसका प्रिंसिपल दसवीं में, अंग्रेजी के पर्चे में, तीन बार फेल होने के बाद कहीं से 'साहित्याचार्य' जैसा कोई प्रमाण-पत्र कबाड़े हुए था। गनीमत इतनी ही थी कि एक पुराने दोस्त की मेहरबानी से एक ट्यूशन और कॉमरेड साहब के इस 'सर्वहारा कुटीर' में पचास रुपये महीने पर एक कमरा मिल गया था।

'धन्यवाद साहब !' मैं भीतर से ही जवाब दे देता। मैंने उन्हें अपनी वस्तुस्थिति का पता नहीं लगने दिया वरना शायद वे मुझ जैसे टटपूंजिये को मकान ही किराये पर ना देते। एक तो टीचर वैसे ही फटीचर समझा जाता है। लड़कों की ब्लैक मार्केटिंग के इस जमाने में भी कोई उसके साथ अपनी लड़की का रिश्ता जोड़ना नहीं चाहता। फिर टीचर भी मेरे जैसा ! करेला और नीम चढ़ा। मैंने अपने राज को राज ही रहने देने में खैरियत समझी।

मगर कॉमरेड साहब का कोई राज मुझसे छिपा नहीं है। वह मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी के सक्रिय कार्यकर्ता हैं। यह अलग बात है कि अपनी जाति का उम्मीदवार होने के कारण लोकसभा चुनाव में उन्होंने एक पार्टी का समर्थन किया था तो 'परसनल ताल्लुकात' की वजह से विधान सभा चुनावों में वह दूसरी पार्टी

के साथ थे। राम नाम की जगह मार्क्स का नाम जपते हैं और हर वक्त क्रान्ति की जुगाली करते रहते हैं। सर्वहारा का सर्वस्व हरण करने में उनका कोई सानी नहीं है। लेबर यूनियन के चंदे-चिट्ठों पर हाथ साफ करने के अतिरिक्त एक अरसे से वे पूरा पाने वालों और पूरा खिलाकर काम निकलवाने वालों के बीच की महत्वपूर्ण कड़ी का काम करते आ रहे हैं। काम कोई भी हो, दफ्तर किसी का भी हो और अफसर कैसा भी हो, कॉमरेड को इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। पटवारियों के सलेक्शन से लेकर आई० टी० आई० में एडमिशन करवाने तक, और फर्जी मेडिकल सर्टिफिकेट से लेकर बिजली के कनेक्शन दिलवाने तक के सारे केसेज वह डील करते हैं। दलाली के इस धंधे की अंधी कमाई से उन्होंने अच्छी-खासी प्रोपर्टी खड़ी कर ली है। बस स्टैण्ड पर जो 'सर्वहारा-भोजनालय' है, गुरद्वारे पर जो 'सर्वहारा बीज भण्डार' है, रेलवे-स्टेशन पर जो 'सर्वहारा रेस्टोरेन्ट' है, बाईपास पर जो 'सर्वहारा ढाबा' है और नेशनल हाईवे पर जो 'सर्वहारा कृषि फार्म' है—इन सब पर उन्हीं के सर्वाधिकार सुरक्षित हैं। समाज-कल्याण विभाग की ओर से एक 'सर्वहारा होस्टल' भी चलाते हैं जिसमें रोबदार दाढ़ी-मूंछों वाले दादाओं की अच्छी-खासी फौज तैयार कर रखी है, जिसके बल पर कई 'ईमानदार की पूंछ' बनने वाले अफसरों का सरेआम कल्याण करवा चुके हैं। कहते हैं, इसी 'मुक्ति वाहिनी' की सहायता से उन्होंने एक प्लॉट को उसके असली मालिक से मुक्त कराकर रातों-रात 'सर्वहारा कुटीर' का शिलान्यास कर डाला था।

कॉमरेड का 'आपका महँगाई भत्ता बढ़ गया' कहना मेरे लिए एक प्रकार की 'वार्निंग' थी कि बच्चू! तैयार हो जा, किराया बढ़ाने की माँग आने वाली है। दूसरे या तीसरे दिन शाम को एक हाथ में लुंगी को जरा ऊँचाई पर थामे, बनियान को फोल्ड कर आधी तोंद पर चढ़ाये हुए वे गर्दन निकालकर भीतर झाँकते—'क्या हो रहा है, मास्टर साहब ?'

उनका इशारा समझकर मेरे दिल की धड़कनें बढ़ जातीं। सूखे होंठों पर बलात् मुस्कराहट चिपकाकर शिष्टाचार निभाता—'कुछ नहीं, बैठे हैं···आइये··· आइये न!' अटकते-अटकते वे भीतर आ जाते। कुर्सी या चारपाई पर, जहाँ सुविधा होती जम जाते। चारों ओर नजरें घुमाकर आश्वस्त होते कि कहीं दीवार पर कोई कील तो नहीं ठोक रखी है, कहीं कालिख तो नहीं लगी है, पंखा तो नहीं चला रखा है, हीटर तो नहीं जला रखा है। तमाम जाँच-पड़ताल के बाद बातचीत का सिलसिला कहीं से भी शुरू कर देते और बड़ी होशियारी से उसे अपने गंतव्य की ओर मोड़ ले जाते। मसलन पूछ बैठते, 'और खाना-वाना खा लिया ?'

'जी हाँ।'

'बहुत जल्दी की।'

'और क्या, सेक ली दो चपाती। सब्जी थोड़ी सुबह की पड़ी थी। चल गया

काम।'

'अरे साहब, क्या ख़ाक खायेगा कोई ?' वे शुरू हो जाते—'पाँच रुपये की सब्ज़ी से एक वक़्त का भी काम नही चले। मिर्च-मसाला अलग। इस महँगाई ने तो हद कर दी। सब साले चोर है। मनमाने दाम वसूल करते हैं। सरकार भी कुछ नही करती। रशिया-चायना मे ऐसे लोगों को गोली मार दी जाती है। आपको तो फिर भी विशेष फर्क नही पड़ता। महँगाई बढ़ती है तो सरकार महँगाई-भत्ता बढ़ा देती है। मारे जाते हैं वे जो मेहनत-मजदूरी करके काम चलाते हैं। हड्डी-पसली एक करके भी बेचारों को पेट की रोटी, तन का कपड़ा और सिर छिपाने को कोई ठौर नसीब नही होता। जमीन पर रात गुजारते हैं। पेट ही नही भरे तो मकान की कौन सोचे। यह मकान कैसे बनाया, मेरा जी ही जानता है। बनाना पड़ा। मजबूरी जो थी। यहाँ मकानो की बड़ी समस्या। किराया सुनो तो कान खड़े हो जायें। अपने इस कमरे के बराबर कमरा कोई डेढ सौ से कम मे नही देगा। कल ही वाटर-वर्क्स के एक बाबूजी आये थे। कहने लगे—कॉमरेड आप जो चाहो सो ले लो पर यह कमरा मुझे दे दो। मैंने साफ कह दिया—हम किराये पर मकान देते ही नही। मास्टर साहब तो घर के आदमी है। और बात भी सही है।' आपके और हमारे ताल्लुकात दूसरी तरह के हैं। दूसरे को कमरा देने की बजाय हम आपसे ही दस-बीस रुपये बढवा लेंगे। है कि नही ?'

मैं क्या कहता ? हां-हूँ करता रहता। नतीजा यह होता कि अगले महीने ही किराया पचास के बजाय साठ रुपया देना पड़ता। इसी तरह कॉमरेड कभी दो और कभी तीन महीने के अन्तराल से आते और अपने उसी वाक्-चातुर्य से किराया बढा जाते। पचास से साठ, साठ से सत्तर और सत्तर से अस्सी रुपये हुए। आखिर मुझसे ना रहा गया। बोलना पड़ा—'कॉमरेड यह आपकी ज्यादती है। अभी साल भर भी नही हुआ और आपने तीन-चार दफा किराया बढा दिया। आखिर कोई सीमा···'

वह बीच मे ही बोले—'देखिए मास्टर साहब, इसमे मेरी क्या गलती है ? सारा दोष इस निकम्मी सरकार का है। क्यों नही महँगाई को कन्ट्रोल किया जाता ? महँगाई बढ़ेगी तो सीधी-सी बात है मकान किराया भी बढेगा। साल भर मे आपका महँगाई भत्ता कितनी बार बढा ? यह नही दिखता !'

मेरा महँगाई भत्ता एक बार भी नही बढा था। पर यह बात कहता कैसे ? इज्जत का सवाल जो था। 'आप बड़े आदमी है, मालिक हैं, हम तो आपके बच्चे है, छत्रछाया मे पड़े हैं।' इसी तरह के कुछ ठंडे छींटे मारे तो कॉमरेड नरम पड़े। कहने लगे—'सो तो है ही। आप जानते है मैंने कभी आपको किरायेदार नही माना। 'घर का आदमी' समझा है पर किराया तो···अच्छा, आप एक काम कीजिए, पूरे सौ कर दीजिए। फिर जब तक रहोगे एक पैसा नही बढ़ेगा। यह तय

रहा। दो साल रहो चाहे चार साल रहो। आप भी क्या याद रखोगे।'

रोज-रोज के झंझट से बचने के लिए मैंने उनका प्रस्ताव मान लिया। महीना होते ही कॉमरेड को सौ रुपये पकड़ा देता और वे 'और कोई तकलीफ तो नहीं मास्टर साहब' कहते हुए ले लेते। ना कमरे का मुआइना, न महँगाई की शिकायत, ना सरकार के निकम्मेपन पर भाषण। मैं खुश था—चलो यह अच्छा हुआ। पाप कटा हमेशा के लिए।

कोई चार महीने के बाद की बात है। दोपहर का समय था। खाना खाकर थोड़ी देर लेटा ही था कि बाहर से किवाड़ खटखटाने की आवाज आयी। दरवाजा खोला तो बाहर कॉमरेड खड़े थे। उनके पीछे थे गंजे सिर वाले एक मरियल से सज्जन। मैं कुछ समझ पाऊँ इससे पहले ही दोनों कमरे में घुस आये। कॉमरेड बिना किसी भूमिका के साथ वाले सज्जन को मेरा कमरा दिखाते हुए बोले—'यह कमरा खाली है, एकाउन्टेंट साहब।'

मेरे ऊपर जैसे गाज गिरी!

एकाउन्टेंट साहब कमरे में मुझे और मेरे सामान को देख कुछ उलझन में पड़े—'मगर इसमें तो···।'

'जी हाँ, ये मास्टर साहब रह रहे हैं।' उनकी परेशानी भाँपकर कॉमरेड बीच में ही बोल पड़े—'मगर यह किरायेदार नहीं, घर के ही आदमी हैं। इन्हें दूसरी जगह शिफ्ट कर देंगे। आप तो पहली तारीख को आ जाइए। कमरा आपको खाली मिलेगा।'

मैं चुपचाप सुनता और बर्दाश्त करता रहा। जैसे मेमने की माँ मेमने का सौदा होते देख रही हो।

एकाउन्टेंट साहब को 'सी ऑफ' करके लौटे तो कॉमरेड कहने लगे—'बिजली-विभाग में एकाउन्टेंट हैं। बड़े भले आदमी हैं। मकान की वजह से तकलीफ में थे बेचारे। मैंने तो मना कर दिया था पर पीछे ही पड़ गये तो क्या करें। दो-चार मिलने-जुलने वालों से भी कहलवाया। ज्यादा इन्कार करना भी ठीक नहीं। कई तरह के काम पड़ते रहते हैं ऐसे लोगों से।'

'इसका मतलब है कि मुझे मकान छोड़ना पड़ेगा।' आखिर मुझे कहना पड़ा। वह मेरे कंधे पर धौल जमाते हुए बेवजह हँसे—'अरे! यह किसने कहा आपसे? वाह साहब, यह खूब कही। आपका खयाल हमें पहले है। भीतर दूसरा कमरा खाली करवा रहे हैं। आपको आम खाने हैं कि पेड़ गिनने हैं? घबराइए मत, किराया वही रहेगा। एक बार कहकर मुकरना हरामी का काम है।'

दो दिन बाद मुझे दूसरे कमरे में शिफ्ट होना पड़ा। उसे कमरा कहना कमरे की तौहीन करना होगा। दुनिया भर का काठ-कबाड़ अपने में समेटे, जाने कब से बंद पड़ी एक काल-कोठरी के कपाट खोल दिये गये थे। फर्श ऊबड़-खाबड़ जहाँ-

तहाँ गड्ढे, कोनों में चूहों के बिल, जगह-जगह मकड़ी के जाले और दीवारों पर घात लगाये, बैठी छिपकलियाँ। न खिड़की, न खूँटी, न टांड। गर्मियों भर पसीजता रहा। बरसात में छत चूती रही, मच्छर काटते रहे।

दीवाली आयी। घर आये पूरे दो साल हो गये थे। कॉलिज में पढ़ रहे गाँव के किशोरी सेठ के लड़के ने खबर दी कि इस बार दीवाली पर माँ ने जरूर-जरूर गाँव बुलाया है। जाने को हुआ तो कॉमरेड मिल गये।

'गाँव जा रहे हैं मास्टर साहब ?'

'जी हाँ।'

'हम तो आप वाले कमरे की मरम्मत कराने की सोच रहे थे ताकि आपको परेशानी न हो। अब कैसे हो पायेगा···अच्छा, आप एक काम कीजिए। अपना सामान जीने के नीचे वाली कोठरी में रख जाइए। लौटेंगे तब तक काम कम्पलीट हो जायेगा ! ठीक है न ?'

मैंने मन-ही-मन उनकी सराहना की और खुशी-खुशी उनके निर्देश का पालन किया।

बीसेक दिन गाँव रहकर लौटा तो अपनी कोठरी का कायाकल्प हुआ देखकर मुझे सुखद आश्चर्य हुआ। फर्श ठीक हो गया था, दरवाजे की सीध में पिछली दीवार में एक खिड़की खोल दी गयी थी और बाहर-भीतर रंग-सफेदी हो चुकी थी। कुल मिलाकर सद्यस्नाता का-सा दपदपाता रूप-यौवन लिए कोठरी मेरे सामने मुस्करा रही थी। भीतर ताजा धुली चादर बिछी एक चारपाई, जिस पर साफ-सुथरी लुंगी-बनियान पहने कोई बीसेक साल का चिकना-चुपड़ा नौजवान छाती पर खुली किताब उलटे कान के पास ट्रांजिस्टर लगाए क्रिकेट-कॉमेण्ट्री सुनने में मग्न था। कॉमरेड कहीं दिखायी नहीं दिये। 'कोई मेहमान होगा' ऐसा सोचकर मैंने अपना बैग रखा और स्कूल चला गया।

शाम को 'राजेश रेस्टोरेंट' में चाय पीने घुसा तो वहाँ कॉमरेड मिल गये। बड़े उत्साह से बोले—'ओऽ ! आ गये मास्टर साहब ? कैसी रही दीवाली ?'

कुछ देर इधर-उधर की बातचीत के बाद उन्होंने अचानक रहस्योद्घाटन किया—'ऐसा है मास्टर साहब, वो आप वाला रूम तो 'आक्यूपाईं' हो गया।'

मुझे काटो तो खून नहीं।

'हुआ यों', वह कहते रहे—'उसमें कुम्मट साहब अपने बच्चे को रख गये। कुम्मट साहब को तो आप जानते ही हैं, जो अपने यहाँ पी० डब्ल्यू० डी० में ओवरसीयर थे। इधर उनका ट्रांसफर नोहर-भादरा हो गया। बच्चा यहाँ कॉलिज में पढ़ता है। कहने लगे—कॉमरेड, अब बीच में कहाँ ले जाऊँ ? आप ही सँभालिए इसे परीक्षा तक। क्या करते ? रखना पड़ा। सोचा मास्टर साहब तो घर के आदमी हैं। परीक्षा तक दो-चार महीने जीने वाली कोठरी में रह लेंगे, फिर उसमें शिफ्ट

हो जायेंगे। वैसे उसमे भी परेशानी तो कुछ है नही। एक आदमी तो आराम से रह ही सकता है। आपको ज्यादा बड़े कमरे की जरूरत भी क्या है? कोई फेमिली तो रखनी नही है।'

कॉमरेड से कुछ भी कहना बेकार था। कुछ दिन खाना होटल में खाया और कभी किसी साथी के यहाँ तो कभी रेलवे स्टेशन की बेंचों पर गुजारता रहा। स्कूल टाइम के बाद रोज ही दूसरे मकान की तलाश में मारा-मारा फिरता पर काम नही बन पाया। अव्वल तो मकान खाली मिलता ही नही, मिलता तो कोई फेमिली रखने की शर्त रखता तो कोई सिंगल रूम की बजाय पूरा फ्लैट लेने का आग्रह करता। कही लाइट का प्रबंध नही तो कही पानी की मुसीबत। तिस पर भी किराया दो-ढाई सौ से कम नही। हारकर कॉमरेड की जीने वाली कोठरी की ही शरण लेने को मजबूर होना पड़ा।

जितना सभव था, कोठरी को झाड़-पोछकर साफ किया। एक कोने में चौका लीपने के लिए चिकनी मिट्टी की ढेरी और दूसरे कोने में बकरी के लिए सूखी लूम पडी थी जिन्हें वही पड़े रहने देना था। बाकी दो कोनों में अपने सामान के पिरामिड खड़े कर दिये। बीच की थोड़ी-सी जगह में फर्श पर बिस्तर डालकर जैसे-तैसे दुबक लेता। पैर सीधे करो तो दीवार से टकराये, करवट लो तो 'पिरामिड' ढहकर ऊपर गिर पड़ें और भूल से कभी सीधे खड़े हो जाओ तो सर से टकराकर खोपडी भन्ना उठे। गरमी की वजह से दरवाजा खुला छोड़कर सोता तो भी नींद न आती। सुबह होते-होते कही थोडी देर को आँखें झपकती। इस बीच कॉमरेड की बकरी आठ रुपये साठ पैसे किलो के भाव की दाल चबाकर मेंगनियाँ बख्शिश कर जाती या उनका पालतू कुत्ता 'बिस्सू' चाय के लिए रखे पचास ग्राम दूध के गिलास को उलट कर जाता।

जाड़ा आया। इतवार की छुट्टी थी। ठण्डी हवा के झोंकों से दिन में भी कॅपकॅपी छूट रही थी। सुबह खाना पकाया, खाया और किवाड़ भेड़कर बिस्तर में जा दुबका। जाने कब आँखें लग गयी और घने जगलो, कटीली, झाडियो और भयानक पहाडी गुफाओं में निरर्थक चक्कर काटने लगा। चलते-चलते ऊंचे पहाड़ों के बीच एक नितान्त तग घाटी में पहुँचता हूँ। अचानक भयानक मेघ-गर्जन के साथ चारों ओर पहाड़ो की चोटियों से भारी-भारी पत्थर मेरी ओर लुढ़कने लगते हैं—गडडड···गड़गड! मड़ड़ड···भड़भड!!

आँखें खुली तो पसीने से नहा गया था। यह जानकर तसल्ली हुई कि मैं अपनी कोठरी में ही हूँ और बच गया हूँ।

'भड़ड़ड···भडभड···'

'हूँऽऽ, तो यह बात है। बाहर से कोई किवाड़ भड़भड़ा रहा है।' सोचते हुए उठ बैठा। एकबारगी ही दिल दहशत से भर उठा। सोचा—जरूर कॉमरेड ही

हैं। किसी-न-किसी एकाउन्टेंट साहब या ओवरसियर साहब या बिजली विभाग के किसी बाबू साहब को लाये है। अभी उन्हे यह कोठरी दिखाते हुए बोलेंगे—मास्टर साहब तो घर के ही आदमी हैं। यह तो उधर बाथरूम मे शिफ्ट हो जायेंगे !

'भड़-भड़ऽऽ···भड़-भड़ऽऽऽ !'

'कौन ?'

'दरवाजा खोलो।' बाहर से कॉमरेड की भारी आवाज गूँजी। डपटती-सी।

उठकर दरवाजा खोला तो सन्न रह गया। कोठरी के दरवाजे पर जीने में अपने गणों के साथ कॉमरेड खड़े थे—रौद्र रूप, आँखो मे क्रोध से कांपता दुर्वासा रूप !

क्षण भर की चुप्पी। जैसे सब कुछ जम गया हो। मेरी आँखों ने उन्हे नापा। उनकी आँखों ने मुझे तोला। फिर कॉमरेड कड़के—'चलो, निकलो बाहर। खाली कर दो मेरा मकान···अभी, इसी वक्त !'

मैं अचकचाया। कुछ समझ मे नही आया। मुझे चुप खड़े देख वे और भड़क उठे। पूरी ताकत से चीखे—'सुना नही क्या ? मैं कहता हूँ उठा अपना यह कबाड़-खाना और अपनी यह मनहूस शक्ल फिर कभी मत दिखाना वरना चौखटा बदल जायेगा। यह शरीफ़ो के रहने की जगह है, गुण्डों की नहीं।'

अपने लिए इस नये विशेषण का रहस्य समझ पाऊँ इससे पहले ही वे फिर चीखे—'मैंने भला आदमी समझा था पर तू तो हरामी की औलाद निकला। शर्म नही आती तुझे दूसरो की बहन-बेटियो को ताकते ? साले तेरी माँ-बहन मर गयी हैं क्या ?'

'जी-जी-जी···!'

'अबे ओ जीजी के भड़ुए !' पैनी-सी ठुड्डी पर तुर्की दाढ़ी और आँखों पर चौड़े फ्रेम के चश्मे वाले एक लमछड़ 'दादा' ने अपने कड़े वाले कद्दावर हाथ के पंजे में मेरी उभरे टेंटुए वाली लम्बी गर्दन पकड़ते हुए कहा—'तेरा यह जीजा अभी एक मुक्की मारेगा तो साले की तूमड़ी, तरबूज की तरां, छितर जायेगी। सारी आशिकी भूल जायेगा। साले के पेट मे आँत नही, थोबड़े पर बारह बज रहे हैं और चला है मजनूँ बनने।'

फिर कुछ पता नहीं चला कि कब उसने धक्का मारते हुए गर्दन छोड़ी, कब किस दीवार से टकराकर सिर लहूलुहान हुआ, कब लड़खड़ाकर गिरा और गठरी-सा लुढ़कता नीचे पहुँच गया। सब कुछ क्षण भर मे ही घट गया। सँभला तो देखा—पानी की बाल्टी, आटे का कनस्तर, डालडे का डिब्बा, तेल की शीशी, स्टोव, चकला-बेलन···और भी जाने क्या-क्या—मेरे अनुसरण मे, मेरी ही तरह, इधर-उधर की दीवारो मे टकराते जीने मे लुढ़कते चले आ रहे थे।

घर का आदमी घर से बाहर था।

चिकनी जमीन

□

माधव नागदा

राकेश ने एक बार फिर जेब टटोली। फिर वही कागज हाथ में आया। तीन दिनों से इसी तरह पड़ा है। कितना कीमती कागज है यह। राकेश ने सोचा, यदि इसे वह मिस्टर खन्ना के पास पहुँचा दे तो नौकरी निश्चित है। एक हजार का आकर्षक स्टार्ट और बेरोजगारी से छुट्टी। और छुट्टी रानी की हिकारत भरी नजरों से भी। जब भी उसे अपने किसी खर्च के लिए रानी से कुछ माँगना पड़ता है तो रानी की नजरों का सामना नहीं कर पाता। खर्च तो चाहिए ही। आवेदन पत्र मँगाओ तो पैसा, भेजो तो पैसा, इन्टरव्यू देने जाओ तो पैसा। और इन्टरव्यू में सलेक्शन के लिए? रिजर्वेशन, सिफारिश, रिश्वत और रिश्तों को बाँटने के बाद इत्तफाक से कोई पोस्ट खाली बच जाये तो 'टेलेन्ट' को मिलती है, वरना रोडमास्टरी करते रहो। कितना भद्दा मजाक है बेरोजगारों के साथ।

रानी समझती है यह सब। इसीलिए तो उसने अपने बॉस को कहकर खन्ना साहब के नाम यह सिफारिशी पत्र लिखवाया है। खन्ना इन्टरव्यू बोर्ड के खास मेम्बर है और रानी के बॉस के खास दोस्त भी। यदि राकेश यह पत्र खन्ना साहब के पास पहुँचा दे तो···लेकिन इसी वक्त उसकी उँगलियाँ मानो नाक बन गयी। कागज से रानी की लिपिस्टिक और बॉस के पसीने की मिली-जुली गन्ध से उसके नथुने फटने लगे।

सर्रर से एक नीली कार राकेश के नजदीक से गुजर गयी। वह चौंका। हड़बड़ी में वह एक झलक ही देख पाया। पीछे की सीट पर हल्का गुलाबी रंग उभरा और छँट गया। हाँ, वह रानी ही तो है। और बगल में उसका बॉस।

उसने ठोकर लगायी। सड़क पर पड़ा सिगरेट का पुराना टिन नफ़रत, गुस्से और बेबसी की मिली-जुली भावनाओं का धक्का खाकर जरा दूर जा टिका। एक मैला-कुचैला लड़का पहले ही से इस खाली टिन की ओर बढ़ा आ रहा था। अब उसे कुछ अधिक दौड़ना पड़ा। क्षण भर के लिए ट्रैफिक गड़बड़ाया। स्कूटर के ब्रेक चरमराये। हल्की-सी रगड़ लगी। लड़का लड़खड़ाया। इसके बावजूद उसने खाली टिन कन्धे पर लटक रहे झोले के हवाले कर दिया और फुटपाथ पर

लौट आया।

राकेश ने अपने ललाट पर उभरी पसीने की बूंदें तर्जनी पर इकट्ठी कीं और उन्हें इस तरह छिटका जैसे सारी चिन्ताओं-परेशानियों की आहुति दे रहा हो। उसने लड़के की तरफ देखा। वह अपने को रोक नहीं पाया। नजदीक गया और इस बात की परवाह किये बिना कि लड़के की कमीज मैल से ढकी पड़ी है, उसकी पीठ सहलायी।

'जी···मैंने क्या किया?' लड़का सहमा।

'डरो नहीं। तुमने बहुत कुछ किया है। तुमने मुझे दिखाया है कि स्वाभिमान से जीने के लिए किस तरह खतरे उठाये जाते हैं।'

लड़का समझा नहीं। बस टुकुर-टुकुर देखता रहा। राकेश ने अपनी जेब टटोली। चवन्नी थी। लड़के की ओर बढ़ायी।

'ये लो, रख लो।'

'मैं भीख नहीं लेता साब।'

'एं!' जवाब राकेश के लिए अप्रत्याशित था। लड़के की खस्ता हालत देखते हुए अगर एक पैसा भी दिया जाता तो उसे इन्कार नहीं करना चाहिए था।

'जी बाबूजी। अगर मेरा बाप भी मुझे भीख दे तो नहीं लूंगा। मेहनत की कमाई खाता हूँ।' लड़का खुल रहा था। बारह-तेरह की अदना-सी उम्र में उसकी बुजुर्गियत चौंकाने वाली थी।

लड़के की बात सुनकर राकेश भीतर तक झनझना गया। उसे रानी के सामने बार-बार हाथ पसारना पड़ता है। क्या यह भीख नहीं है? भीख और क्या होती है? जिस उपलब्धि में अपने पसीने की गन्ध नहीं हो वही तो भीख है। कैसी विडम्बना है। मैं पोस्ट ग्रेजुएट हूँ पर भिखमंगा हूँ। यह छोकरा अनपढ़ है मगर स्वावलम्बी है।

'अच्छा बाबू साब।' लड़के ने राकेश को चुप देखकर कहा और तेजी से बढ़ने लगा।

'अरे, अरे, कहाँ चले! कुछ देर और रुको। तुम्हारी बातें सुनकर दिल को तसल्ली मिलती है।' राकेश को लगा कि बहुत दिनों बाद उसे एक सच्चा हमदर्द मिला है।

'रुकूँगा बाबू तो पेट कैसे भरेगा? चलते रहने में ही सार है।'

'अच्छा बाबा चलो। मैं भी उधर ही आ रहा हूँ। तुम्हारा नाम क्या है?'

'धनराज। लोग धन्ना कहते हैं।'

'धनराज, तुम दिन भर में कितना कमा लेते हो?'

'कमाना काएका बाबूजी। पेट का गड्ढा भरने के लिए दिन भर मारे-मारे फिरते है।'

एक ट्रक झपाटे से गुजर गया। कागज का कोई टुकड़ा उड़ा। लड़का झपटा।

'कभी तीन, कभी चार रुपये तो कभी रामजी का नाम।' लड़का फिर साथ-साथ चलने लगा।

'इतने में तुम्हारा गुजारा चल जाता है?'

'पेट हीज तो भरना है। हमें कौन-सा बँगला चाहिए कि टी० वी० कि फरिज कि स्कूटर चाहिए। तीन रुपये मे एक किलो गेहूं आता है। मेरे दो टेम आधा किलो घणा। टिक्कड खाया, पानी पीया और झोपड़ी मे पड़े रहे।'

कितनी सीधी, कितनी सरल जिन्दगी। राकेश के सामने कई चित्र घूम गए। टी० वी०, फ्रिज, सोफा, रानी, कीमती साड़ियाँ, रानी का बॉस, उपहार...

मेरा बापू कहता है कि छोटे लोग पेट के लिए चोरी करते हैं, बड़े लोग बँगला, टी० वी०, कार वगैरा-वगैरा के लिए।

चित्र घूम ही रहे थे। रानी, बॉस, बॉस की कार, रानी की बाँहें, राकेश की बेरोजगारी, डिग्री दफ्तर, सॉरी, झिड़कियाँ, नो वेकेन्सी, अनुभव, धूप, धूल, पसीना...।

'तुमने कुछ कहा था?' राकेश होश मे आया। लड़के ने बापू वाली बात दोहरायी। राकेश के मुँह से निकल पड़ा, 'वाह।'

'लक्ष्मी।' लड़के ने जोर से टेरा।

'कौन है?' राकेश ने पूछा।

'लक्ष्मी। बड़ी सोहनी-स्यानी लड़की है।'

'क्या मतलब?'

'उससे मेरी शादी होने वाली है।' लड़का कुछ शरमाया। 'कहती है अगर तू चोरी करेगा और भीख माँगेगा तो मैं तेरी सूरत तक नही देखूँगी।'

'बड़ी अच्छी बात कहती है।'

'मगर वो कमला ऐसी नही है।'

'कमला कौन?'

'एक भिखारी की लड़की है। रिश्ता लेकर आया था बाप उसका। कहता था दहेज भी दूँगा। मैंने ना दे दिया।'

'क्यो?'

'भीख माँगती है। कभी-कभी ग्राहक भी पटा लेती है। मुझे ऐसी लड़कियाँ पसन्द नही।' धन्ना ने मुँह बिचकाया।

'लक्ष्मी नही करती ऐसा?'

'सवाल हीज नी साब।' लड़के की आँखों में रोष फैल गया। 'उसने तो सौगंध ली है कि न धन्धा करेगी, न भीख माँगेगी, इज्जत वाली लड़की है साब।'

इज्जत ! और रानी के लिए ? राकेश पुनः खो गया। रानी के लिए इज्जत है कार, बंगला, साड़ियाँ, फाइव स्टार होटल। एक बार राकेश ने बेबस होकर कहा था, 'रानी, ये सब चीजें मुझे काटने को दौड़ती हैं।'

कौन-सी ?

'ये सोफा, ये टी० वी०, ये फ्रिज, ये सब नये-नये उपहार जो तुम अक्सर लाया करती हो।'

'ये सब मैं चुराकर तो लाती नही। अगर बॉस मेरे वर्क से खुश होकर कभी-कभी तोहफ़े दे देता है तो इसमें मैं क्या करूँ ?'

'एक तुम्ही तो वर्कर नही हो। उस रामलाल पर तुम्हारा बॉस खुश क्यो नहीं होता जो ऑफिस टाइम के बाद भी देर तक फाइलों मे आँखें गड़ाये बैठा रहता है ?'

'उसमें गट्स नही है।' बॉस ने एक बार इनवाइट किया था और वह अकेला पहुँचा अपनी बीवी तक को साथ नही ले गया।'

'तो रानी, ये तोहफ़े तुम्हारे वर्क का इनाम नही है। ये तुम्हारी खूबसूरती और तुम्हारे गट्स के बदले आये है।'

'तुम कहना क्या चाहते हो ? क्या यह सब मैं सिर्फ अपने लिए इकट्ठा कर रही हूँ ? तुम्हारा भी तो हक है। ये चीजें तुम्हारे घर की रौनक हैं। इज्जत है। दुनियाँ इक्कीसवी सदी की ओर जा रही है और तुम उन्नीसवी सदी की बातें कर रहे हो। महानगर में आकर तो दकियानूसी छोड़ते।'

'बाबूजी, ये रही लक्ष्मी।' लड़के ने कहा। लक्ष्मी और धन्ना बड़ी उमग के साथ एक-दूसरे को आज की कमाई बता रहे थे—कागज, प्लास्टिक, रग-बिरगे काँच और लोहे के टुकड़े।

'लक्ष्मी !'

'बहुत सुन्दर है। महलों मे रहने लायक।' मैंने कहा।

लड़का हंसा। 'क्यो री, रहेगी तू महलों मे ? रहना है तो जा बाबू के संग।'

'हट। मेरे लिए तो तेरा झोपडा ही महल है।' लड़की ने कहा, राकेश की ओर देखा और शर्म से लाल हो गयी।

राकेश सकते में आ गया। ये मैले-कुचैले, अनपढ और गरीब किशोर। इनके उम्दा सोच की जड़ें कहाँ हैं ? वह उर्वरा भूमि कहाँ है जहाँ ऐसे खूबसूरत विचार उगते और पनपते है। महानगर की चिकनी चमकती जमीन पर तो ऐसा सोच पैदा नही होता। रानी तो नही सोचती इस तरह मे। रानी की याद आते ही राकेश के मुँह का स्वाद फिर कसैला हो गया। उस दिन दफ्तरों के चक्कर काटने के बाद शाम को जब घर पहुँचा तो रानी अभी तक नही लौटी थी। भूख

मे आँतें कुलबुला रही थी। खुद ही कच्चा-पक्का बनाकर पेट में डाला और रानी का इन्तजार करने लगा। रानी बहुत देर बाद आयी। आते ही गले में झूल गयी थी।

'हाय राकेश। कहो, कुछ बात बनी?'

'बनी तो नहीं, बिगड़ रही है।' मैंने तल्खी से कहा था।

'तुम तो हमेशा पहेलियाँ बुझाते हो।' वह अपना चेहरा और नजदीक ले आयी थी। लिपस्टिक उखड़ी-उखड़ी तो, केश बिखरे-बिखरे से।

'तुम्हारा इस तरह से लेट आना मुझे पसन्द नहीं। दफ्तर का टाइम तो कभी का पूरा हो चुका।'

'राकी डियर! काम काफी आ गया था। ओवर टाइम करना पड़ा। मैं सोच रही हूँ इस साल के एण्ड तक तुम्हारे लिए स्कूटर ले लूँ। फिर मेरी सहेलियाँ यही तो कहेंगी कि रानी का हसबैंड स्कूटर पर बैठकर नौकरी ढूँढ़ता है।' वह खिलखिला पड़ी थी।

'चुप रहो रानी, मुझे कुछ नहीं चाहिये। मुझे तो बस मेरी रानी चाहिये जो यहाँ आकर कहीं खो गई है। रानी का प्यार चाहिये जो इक्कीसवीं सदी की भूल-भुलैया मे भटक गया है।'

'मैं तो अभी भी तुमसे प्यार करती हूँ।'

'तो दोनों में से एक चुन लो। मुझे अथवा ये सारी तड़क-भड़क।'

'मैं दोनों ही नहीं छोड़ सकती।' कहकर रानी उससे लिपट गयी थी। वह पिघल गया। रानी उसकी कमजोरी थी और बेरोजगारी, मजबूरी। बेरोजगारी, जो दोनों को दूर कस्बे से यहाँ महानगर तक खींच लायी थी।

'अच्छा बाबूजी, चलते हैं।' राकेश वर्तमान मे लौट आया। वे एक भीड़ भरे चौराहे पर थे। रेलमपेल। ठेलमठेल। भों-भों। पों-पों। धुएँ में दबी चमक-दमक। चमक-दमक तले दबा धुआँ।

'ठहरो, ये लो।' राकेश ने अपनी जेब से कागज निकाला। वही सिफारिशी पत्र था। बोला इस पर मेरा पता लिखा है। तुम रख लो। मेरे घर आना।'

लड़की ने आगे बढ़कर कागज ले लिया।

'घर पर ढेर-से बेकार कागज पड़े हैं। तुम्हारे काम आ जायेंगे।' उसका ध्यान अपनी डिग्री और सर्टीफिकेट्स पर था।

'जरूर आयेंगे। आप बहुत अच्छे हो बाबूजी।' दोनों भीड़ में ओझल होने लगे।

राकेश कुछ देर देखता रहा। उसने अपने आपको बहुत हल्का महसूस किया और पास ही स्थित एक अखबार के कार्यालय की ओर मुड़ गया। कल ही उसने एक विज्ञापन पढ़ा था कि इस अखबार को हॉकर्स की जरूरत है। •

ज़रा-सी अनौपचारिकता

☐

निशान्त

लौटकर जब मैं प्रतीक्षालय के भीतर से होकर गेट पार करने लगा तो मुझे मेरी भूल का ध्यान आया। मैं एक पल के लिए भौचक्का-सा रह गया। लगभग आध घंटे पहले मैंने गेट पार करते वक्त आगे तक का टिकट टी०टी०ई० को पकड़ा दिया था। मुझे यहाँ से गाड़ी बदलनी थी और गाड़ी के चलने मे अभी देर थी। इसलिए मै एक मित्र से मिलने के लिए बाहर चला गया था। अब क्या हो? मैं चिन्तित हो उठा। खामखाँ पाँच-छः रुपये का जूत लगेगा।

तभी मैंने सोचा कि क्यों न गेट पर तैनात टी० टी० ई० की तलाश की जाए। शायद उससे वही टिकट मुझे फिर से मिल जाए। मैंने अपनी बात पास से निकल रहे एक रेलवे के आदमी को बताई। उसने भी मेरी हाँ मे हाँ मिलाई, 'आपको टिकट मिल सकता है।'

मैं टी० टी० ई० के दफ्तर में गया और अपने टिकट के बारे मे बात चलाई। सुनकर टी० टी० ई० बोला—'भाई साहब, मैंने तो आवाज भी लगाई थी कि भई, कोई भूल से आगे तक का टिकट दिये चला जा रहा है। लेकिन आपने तो सुना ही नहीं, परन्तु चलो जो हुआ सो हुआ, आप बैठो हम आपका टिकट ढूँढते है।'

उन्होंने टिकट छाँटे तो मेरा टिकट निकल आया। लेकिन टिकट हाथ मे लेकर अफसोस जाहिर करते हुए टी० टी० ई० ने कहा कि भाई साहब, यह तो रद्द किया जा चुका है। अब यह चलेगा नही। अच्छा यही रहेगा कि आप नया टिकट बनवा ले।

उसके साथ सीनियर टी० टी० ई० ने जोड़ा—वैसे नियमानुसार तो हम आपको यह टिकट दे भी नही सकते। इस टिकट से आप यात्रा करेंगे तो रास्ते मे आपसे चैकर डबल या ग्यारह गुना चार्ज कर सकता है। अगर रास्ते मे चेकिंग नही होती है तो गेट पर भी आपको टी० टी० ई० पकड़ सकता है।

सीनियर टी० टी० ई० के नियम बता देने के बावजूद टी० टी० ई० ने मुझे टिकट सौंप दिया। लेकिन मेरी परेशानी जरा भी कम नही हुई। मैंने सोचा—टिकट भी है। मैंने रेलवे को अपने गंतव्य तक का किराया अदा किया है। फिर

भी थोड़ी-सी भूल के लिए मुझे यह सजा क्यूं ? मैंने बड़े टी० टी० ई० से कहा कि साहब, इस पर कोई रिमार्क वगैरह लगा दो। लेकिन वह साफ मना कर गया—'हम अब कुछ नहीं कर सकते। इस पर तो पंचें चल चुकी है।'

मैं अपना-सा मुंह लेकर टिकट खिड़की पर आ गया। खिड़की पर जमा भीड़ में से एक ने मुझे कहा 'क्यूं खामखा पांच-छः रुपये बर्बाद करते हो? टिकट तुम्हारे पास है। किराया तुमने अदा किया है। लोग तो बिना टिकट भी यात्रा करते हैं और एक आप हैं जो टिकट होते हुए भी डरे जा रहे हैं?'

भीड़ से घबराकर ही सही मैंने निर्णय लिया कि अभी और देखते हैं। किसी से और पूछते हैं। गाड़ी के साथ जाने वाले टी० टी० ई० या गार्ड से बात करते हैं। तभी मैं सहायक स्टेशन मास्टर के कमरे में दाखिल हो गया। मैंने अपना टिकट दिखाते हुए अपनी परेशानी बताई। सहायक स्टेशन मास्टर ने तो कहा कि हम क्या कर सकते हैं। लेकिन पास ही खड़े एक चतुर्थ श्रेणी नुमा कर्मचारी ने मुझसे कहा- लाओ टिकट लाओ। उसने जहां से टिकट कटा था वहां से थोड़ी-सी नोक अपने नाखून से तोड़ दी और कहा—'लो अब यह टिकट रद्द किया हुआ नहीं रहा। चेक किया हुआ है।'

उसकी बात से मुझे थोड़ी तसल्ली हुई। लेकिन इस चीरा-फाड़ी में, टिकट चेक करने से जितना कटता है उससे थोड़ा ज्यादा ही फट गया था। थोड़ा सा ध्यान देने से बेईमानी आसानी से पकड़ी जा सकती थी।

मैं उस प्लेटफार्म पर गया, जहां गाड़ी लगनी थी। मैंने इधर-उधर गाड़ी के साथ जाने वाले टी० टी० ई० को देखा। वह न मिला तो सोचा—पांच-छः रुपये के लिए क्यों इतना परेशान हो रहा हूँ? रास्ते में या गेट पर पकड़ा गया तो खामखाँ डबल या ग्यारह गुना भरना होगा। इतने तो मेरे पास पैसे भी नहीं हैं। फिर कोई कैद-वैद और जुर्माना हो गया तो सजा-याफ्ता गिना जाऊंगा। सजा-याफ्ता होने पर नौकरी से और निकाल दिया जाऊंगा।

इस प्रकार डरा हुआ मैं फिर बुकिंग पर आ गया। भीड़ पहले से भी ज्यादा थी। लाइन में लगकर टिकट लेने की जहमत से मैं फिर डर गया। मैं फिर प्लेटफार्म पर यह सोचते हुए लौट आया कि शायद अब तक टी० टी० ई० या गार्ड आ गया होगा।

गाड़ी अभी भी प्लेटफार्म पर नहीं लगी थी। गाड़ी लेट थी और इसीलिए मुझे इधर-उधर भागने का मौका मिल गया था। तभी मुझे चाय की स्टाल पर, सफेद वर्दी पहने और गार्ड का बैज लगाए, एक व्यक्ति दिखाई पड़ा। मैंने पहले तो उससे मेरी गाड़ी के साथ चलने, न चलने का पूछा। जब उसने 'हां' कहा तो मैंने अपना टिकट दिखाया। आश्चर्य की बात कि उसने टिकट को बिल्कुल सही बताया।

मैंने चैन की सांस ली—जब गार्ड ही एतराज नही कर रहा है तो मुझे क्या डर है ? चेकर आयेगा और एतराज करेगा तो मैं गार्ड का नाम ले दूंगा।

तब तक गाड़ी भी आकर प्लेटफार्म पर लग चुकी थी। मैं गाड़ी मे बैठ गया। लेकिन मेरे पास वह इतमीनान नही था जो कि टिकट वाली सवारी के पास होता है। मैं सोच रहा था—गेट पर अगर टी० टी० ई० ने पकड़ लिया तो बेइज्जती होगी। मुझे थोड़ी-सी आशा यही थी कि गार्ड का नाम लेने से या सच्चाई बताने से मेरा पिण्ड छूट ही जायेगा। लेकिन सरलता से पिण्ड छूट जाने की कोई आशा नही थी। कुछ न कुछ बेइज्जती और तोहमत तो फिर भी उठानी ही होगी। फिर भी मैं उतना फिक्रमन्द नही था जितना कि कोई बगैर टिकट वाला होता है। रद्द की हुई ही सही, मेरे पास टिकट तो थी।

सौभाग्य से उस दिन रास्ते मे किसी ने चैक भी नहीं किया। गाडी पहुँच भी जल्दी गयी। गेट पर टी० टी० ई० को टिकट मैंने लगभग बाहर निकालकर ही पकड़ाया। मेरे कदम तेज तो जरूर थे लेकिन इतने ज्यादा तेज नही कि किसी को मुझ पर शंका हो। मैंने डर के मारे पीछे मुड़कर भी नही देखा। मुझे डर था कही टी० टी० ई० आवाज देकर वापस ही न बुला ले। •

लेगी। मेरी स्थिति भी ठीक इस शो-पीस में रखी मछली की तरह है। मैं भी कभी आसमान को छूने का प्रयास करती हूँ तो कभी समुद्र की गहराइयों को नापने की सोचती हूँ। आज तक मैं जीवन की समरसता पाने के लिए छटपटाती रही। कभी आगे बढ़ी हूँ तो कभी पीछे की ओर मुड़ी हूँ पर मंजिल पर पहुँचते-पहुँचते लड़खड़ा जाती हूँ। जैसा रूप-रंग यह सहेजे हुए है, उसे देखकर लगता है अत्यधिक प्रकाश, अंधकार को जन्म देता है। कुदरत ने इसे स्वर्णिम आभा प्रदान कर सोने के रंग से भी चमकीला इसका शरीर बनाया है। इसके पारदर्शी छोटे-छोटे पंख इसकी सुन्दरता को द्विगुणित करते हैं। न यह बोल सकती है न कुछ कर सकती। बस पानी ही इसका जीवन है। यह शो-केस ही इसका घर है, इसकी दुनिया है। उसकी तरह मैं भी अपनी खूबसूरती को सहेजे अपना क्रिया-व्यापार करती रहती हूँ।

इसके पास जीवन जीने का तरीका है पर मैं तो वह भी नहीं जानती। मैं इतना तो जानती हूँ कि विषाक्त वातावरण मनुष्य को समाप्त कर देता है। मैंने भी घुटन भरी जिन्दगी से राहत पाने का बीड़ा उठाया था। पर लगता है यह जिन्दगी घुट कर रह जाएगी। इस बेचारी को तो यह भी मालूम नहीं कि यह जल कब विषाक्त हो जाएगा और कब यह मृत्यु को प्राप्त हो जाएगी। मनुष्य की जरा-सी भूल इसे उसी तरह फेंक देगी जैसे विषाक्त जल को फेंक दिया जाता है।

वह अपने बारे में सोचती रही। कई प्रश्न मन में उभरते रहे। इस जीवन को कटुता देने का काम किसने किया? क्या इसके लिए मैं खुद जिम्मेदार हूँ या उन सारी परिस्थितियों के लिए वह जिम्मेदार है। क्या मेरा हाई-रैंक-ऑफिसर होना उसके 'ईगो' को ठेस पहुँचाने वाला है। क्या सदीप ने अपनी हीन-भावनाओं से ग्रसित होकर पति-पत्नी के सम्बन्धों में दरार पैदा करने का काम नहीं किया? यह नीरसता, यह कटुता, यह एकाकीपन सब कुछ अच्छा नहीं लगता।

तभी दीवार घड़ी ने छः बजाए।

'ओह छः बज गए। कुछ करूँ तब तो काम चलेगा।' ऐसा कहकर वह कपड़े बदलने कमरे में चली गयी।

कुछ देर बाद वह लौटी तो हल्कापन महसूस कर रही थी। उसका ध्यान बार-बार शो-केस में तैरती मछली की ओर चला जाता। वह जिस गुत्थी को आज तक नहीं सुलझा पाई थी मछली को देखकर वह अपने आप से उलझ जाया करती थी। वह निर्णय नहीं कर पा रही थी इन विषम परिस्थितियों में उसे क्या करना चाहिए। एकाकीपन की सौगात इसे मिली थी। फिर भी उसका यह संकल्प दृढ़ था कि मैं टूट जाऊँगी पर झुकूँगी नहीं। जीवन की समरसता पाने के लिए वह विपरीत परिस्थितियों से समझौता करने के पक्ष में नहीं थी।

उसने एक जम्हाई ली। अनमनी-सी वह चाय बनाने किचन में गई। थोड़ी

शो-पीस की मछली

□

वासुदेव चतुर्वेदी

सोनू बैग को पलंग पर फेंकती हुई धम से सोफे पर बैठ गयी। कुछ देर बालों में हाथ फेरते हुए शान्त बैठी रही फिर वह यह कहते हुए उठी कि 'ओफ्फ़ हो गजब की उमस है।' उसने स्विच बोर्ड की ओर हाथ बढ़ा कर पंखा चला दिया। सरसराहट की आवाज के साथ पंखा फुलस्पीड पर चल रहा था। तेज हवा से उसके बाब्ड कट बाल बिखर कर हवा में उड़ रहे थे। उसे लगा कि पंखा गर्म हवा फेंक रहा है पर ठंडक पाने का और कोई चारा भी तो नहीं। कुछ सोचते हुए चिन्तन की मुद्रा में वह कमरे में चहलकदमी करने लगी।

एकाएक उसकी निगाह 'शो-पीस' में तैरती सुनहरी मछली पर पड़ी। उसके एकाकीपन में इस मछली ने ही दिल-बहलाव का काम किया था। स्टीन की तरह शो-पीस में बन्द एकमात्र वह सुनहरी मछली कभी आगे की ओर बढ़ती तो कभी पीछे की ओर, कभी स्थिर रह जाती तो कभी ऊपर की ओर बढ़ जाती। धीमे-धीमे बढ़ना और लौटकर वापस अपने स्थान पर आ जाना मछली का यह क्रिया-व्यापार वह अपलक नेत्रों से देखती रही। उसे देखकर उसके मन में उठा तूफान शान्त हो गया। बड़ा भला लगा उसे। काफी देर तक वह मछली के क्रिया-कलापों को देखती रही। सोचती रही। मछली के जीवन के क्रियाकलापों में और उसके जीवन की गति में काफी कुछ समानता है।

सचमुच मछली के क्रिया-कलाप इसलिए हो रहे हैं कि पारदर्शी कांच की चारदिवारी में पानी भरकर उसके अस्तित्व को देखा जा सके इसलिए विभिन्न उपादानों से सजाया गया है। जीवन की कटुता को इसने पानी के साथ एकमेक कर दिया है। यह पानी ही उसका जीवन है। पानी नहीं होता तो यह छटपटाएगी दम तोड़ देगी। तीसरे-चौथे दिन यदि पानी न बदला जाएगा तो पानी विषाक्त हो जायेगा। मछली तब भी दम तोड देगी। मनुष्य ने अपने आनन्द के लिए बेचारी इस मूक मछली को कैद कर मात्र प्रदर्शन की वस्तु बना दिया इसकी दुनिया कितनी सिकुड़ गयी है। शो-पीस वैसा का वैसा रहेगा पानी बदला जाता रहेगा। यह मछली भी बदल जाएगी उसका स्थान कोई और मछली ले

लेगी। मेरी स्थिति भी ठीक इस शो-पीस मे रखी मछली की तरह है। मैं भी कभी आसमान को छूने का प्रयास करती हूँ तो कभी समुद्र की गहराइयों को नापने की सोचती हूं। आज तक मैं जीवन की समरसता पाने के लिए छटपटाती रही। कभी आगे बढ़ी हूँ तो कभी पीछे की ओर मुड़ी हूँ पर मंजिल पर पहुँचते-पहुँचते लड़खड़ा जाती हूँ। जैसा रूप-रंग यह सहेजे हुए है, उसे देखकर लगता है अत्यधिक प्रकाश, अंधकार को जन्म देता है। कुदरत ने इसे स्वर्णिम आभा प्रदान कर सोने के रंग से भी चमकीला इसका शरीर बनाया है। इसके पारदर्शी छोटे-छोटे पंख इसकी सुन्दरता को द्विगुणित करते हैं। न यह बोल सकती है न कुछ कर सकती। बस पानी ही इसका जीवन है। यह शो-केस ही इसका घर है, इसकी दुनिया है। उसकी तरह मैं भी अपनी खूबसूरती को सहेजे अपना क्रिया-व्यापार करती रहती हूँ।

इसके पास जीवन जीने का तरीका है पर मैं तो वह भी नही जानती। मैं इतना तो जानती हूँ कि विषाक्त वातावरण मनुष्य को समाप्त कर देता है। मैंने भी घुटन भरी जिन्दगी से राहत पाने का बीड़ा उठाया था। पर लगता है यह जिन्दगी घुट कर रह जाएगी। इस बेचारी को तो यह भी मालूम नही कि यह जल कब विषाक्त हो जाएगा और कब यह मृत्यु को प्राप्त हो जाएगी। मनुष्य की जरा-सी भूल इसे उसी तरह फेंक देगी जैसे विषाक्त जल को फेंक दिया जाता है।

वह अपने बारे में सोचती रही। कई प्रश्न मन मे उभरते रहे। इस जीवन को कटुता देने का काम किसने किया? क्या इसके लिए मैं खुद जिम्मेदार हूँ या उन सारी परिस्थितियों के लिए वह जिम्मेदार है। क्या मेरा हाई-रैंक-ऑफिसर होना उसके 'ईगो' को ठेस पहुँचाने वाला है। क्या सदीप ने अपनी हीन-भावनाओं से ग्रसित होकर पति-पत्नी के सम्बन्धो में दरार पैदा करने का काम नही किया? यह नीरसता, यह कटुता, यह एकाकीपन सब कुछ अच्छा नही लगता।

तभी दीवार घड़ी ने छः बजाए।

'ओह छः बज गए। कुछ करूँ तब तो काम चलेगा।' ऐसा कहकर वह कपड़े बदलने कमरे में चली गयी।

कुछ देर बाद वह लौटी तो हल्कापन महसूस कर रही थी। उसका ध्यान बार-बार शो-केस मे तैरती मछली की ओर चला जाता। वह जिस गुत्थी को आज तक नही सुलझा पाई थी मछली को देखकर वह अपने आप से उलझ जाया करती थी। वह निर्णय नही कर पा रही थी इन विषम परिस्थितियों मे उसे क्या करना चाहिए। एकाकीपन की सौगात इसे मिली थी। फिर भी उसका यह संकल्प दृढ़ था कि मैं टूट जाऊँगी पर झुकूँगी नही। जीवन की समरसता पाने के लिए वह विपरीत परिस्थितियो से समझौता करने के पक्ष मे नही थी।

उसने एक जम्हाई ली। अनमनी-सी वह चाय बनाने किचन मे गई। थोड़ी

देर बाद वह चाय का कप लेकर कमरे में आ गई। चाय सिप करते हुए भी वह फ़ी-फ़ीस की मछली की ओर देखती रही।

चाय ख़त्म करके वह फिर बोझिल महसूस करने लगी। उसने अपने दोनों हाथों की उँगलियों को बालों में घुमाया। हर क्षण उसे ऐसा लगता जैसे मन खाली-खाली है। विवशताओं के दायरे में जैसे वह मछली की तरह कैद होकर रह गयी है। घर की दीवारें जैसे काँच की दीवारें हो गयी हैं। वह जो भी कुछ करती हैं उसके क्रिया-कलापों को बाहरी दुनिया के लोग देखा करते हैं। मर्यादाओं का सेतु तोड़कर वह कोई कदम भी तो नहीं उठा सकती।

वह सोचने लगी मछली की छटपटाहट तो पानी के अभाव में देखी जा सकती है पर मेरी छटपटाहट को कौन देखे। मेरी पीड़ा को कौन सुने। जब जीवन के प्रति विरक्ति हो गई हो तो फिर आसक्ति के बारे में क्यों सोचूं? दोष दूं भी तो किसे दूं।

कॉल-बेल बजी। वह अनमनी-सी दरवाजा खोलने गयी। अप्रत्याशित रूप में नीना को सामने खड़ी देखकर उसकी आँखों में चमक आ गई। हाथ आगे बढ़ाती हुई बोली, 'थाई गॉड'! काफी दिनों बाद इधर आयी हो। आओ-आओ भीतर आओ।'

'तुमने याद किया होता तो मैं आ जाती पर तुम तो अपने ही में मस्त रहती हो। न क्लब आती हो न काकटेल पार्टियों में! आखिर क्या बात है। क्यों हरदम बुझी-बुझी रहती हो। क्यों अपने आप पर अन्याय करने तुली हो?'

'किश्ती को किनारा न मिला, हाले दिल साहिल से पूछ!'

'ओह समझी तो तू अब शायरी भी करने लगी! मुझे लगता है तू भीतर ही भीतर जलती रहती है। क्या बात है कि तू जलती रही और हम धुआँ भी न देख सके। पढ़ाई के दिनों में तेरे चेहरे पर जो नूर था वह भी न जाने कहाँ गायब हो गया। आखिर अफसर हो गई न, सो इतनी बदल गई?'

'नहीं ऐसी बात नहीं है। मैं जितना ही दर्द पीने की कोशिश करती हूँ उतना ही मुझे दर्द अधिक सालता है। जीवन में वह सब कुछ नहीं पा सकी जो मुझे पा लेना चाहिए था। अधिकारों के बोझ से दबी नारी में सुकोमलता की संभावना न 'उसने' की थी और न मैं करती हूँ। जीवन का एक सत्य जरूर मैंने पा लिया है पर जीवन के शिव को पाने की साधना अधूरी ही है। जिस गुत्थी को सुलझाने की कोशिश मैंने की, वह बजाय सुलझने के उलझती ही गयी।'

'आखिर ऐसी कौन-सी गुत्थी है जिसे सुलझाया नहीं जा सकता। नदी के दोनों किनारे दूर-दूर रहते हुए भी नदी के अस्तित्व का बोध तो कराते ही हैं। नदी की समरसता दोनों किनारों पर बहते जल से प्राप्त होती है। मैं तो यही कहती हूँ कि जीवन की समरसता इसी में है कि विगत को भूलकर तुम दोनों अपनी गृहस्थी

के अस्तित्व को जानो, भविष्य को पहचानो और समरसता का आलेख लिखो।'

'क्या कहती हो नीना! विगत की कटुता मिठास में नहीं बदल सकती! नवीनता का भूखा संदीप पहले भी पश्चात्ताप की आग में नहीं जला और वह वही करता रहा जो उसे नहीं करना चाहिए था। कैसी विडम्बना है कि पुरुष जो भी करे वह क्षम्य है लेकिन औरत तनिक भी कुछ करे तो वह संदेह के दायरे में कैद कर दी जाती है। सुन, मकड़ी जो जाला बुनती है वह बुनते-बुनते उसी में कैद हो जाती है। ठीक उसी तरह संदीप को पाने के लिए मैंने जाला बुना था। वह मिला भी लेकिन उसके नित नूतन-खोजी-स्वभाव ने मुझे उपेक्षित कर दिया। मकड़ी की तरह मैं भी जाले में कैद होकर छटपटा रही हूँ। मुझे लगता है यह जिन्दगी इतनी बौनी हो जाएगी कि अस्तित्व-बोध के लिए कोई जगह नहीं रह जाएगी। विवशता का नासूर...।'

वह कुछ कह पाती कि इतने में महरी आ गयी सोनू ने उसके चेहरे पर उदासी देखी तो बोली, 'आज फिर देर कर दी न! अच्छा बता बच्चा कैसे है?'

'क्या बताऊँ मालकिन! अभी तो जिन्दा है जैसे-तैसे सुई लगवाकर सुलाकर आयी हूँ। उसका बाप तो पी-पिलाकर कहीं पड़ा बड़बड़ा रहा होगा। देर रात जब लौटेगा तो सारा घर आसमान पर उठा लेगा। उसकी मार से जोड़-जोड़ दुख रहा है। भाग्य में जब यही लिखा है तो सहन करना ही होगा। खैर! छोड़ो, मालकिन इस बात को! अब बताओ कि क्या बनाऊँ?'

'बड़ी दुखी है बेचारी! अच्छा जा दो कप कॉफी बना ला और फिर तेरी आज की छुट्टी। खाना मैं आज बाहर खा लूंगी।'

सोनू की बात सुनकर महरी के पाँवों में जैसे ताकत आ गयी थी वह तेजी से किचन की ओर बढ़ गयी।

'सुना नीना महरी कह रही थी, भाग्य में जब यही लिखा है तो बर्दाश्त करना ही रहा। बस इतना जान लो कि इस घर में भाग्य के मारे लोगों का जमघट लगा है। वह बाहरी मार से पीड़ित है और मैं भीतरी मार से। खोखलापन दोनों में है। फर्क इतना है कि उसके पास 'वह' होते हुए भी उसका अपना नहीं है और मेरे पास नहीं होते हुए भी 'वह' मेरा अपना है।'

'तूने दर्द पीकर जीना सीख लिया है इसलिए ऐसी बातें कर रही है। पतझड़ के बाद बसन्त आता है। तू कहे तो मैं संदीप से मिलूं।'

'मिल ले भले ही, पर जरा संभलकर। बसन्त की मादक गंध पाकर कहीं रस लोलुप भँवरा तुझ पर डोरे न डालने लगे।'

'तू इसकी चिन्ता मत कर! महक बिखेरने वाली कलियाँ काँटे भी रखती हैं। वह अपने दर्द की चुभन तुझे दे सकता है, मुझे नहीं। हाँ एक बात और, अगले संडे को शादी की सालगिरह की जो पार्टी दे रही हूँ उसमें तू जरूर आना। मैं संदीप

को भी उसमे बुलवा लूँगी।'

'ना बाबा ना मैं नही आ सकती।'

'तू आ जा पार्टी में फिर देखना मैं संदीप को कैसे रास्ते पर लाती हूँ। उस दिन तुम दोनों को अपनेपन का अहसास न करा दिया तो मेरा नाम नीना नहीं।'

उसने यह बात इस ढग से कही थी कि सुनकर सोनू के बुझे चेहरे पर प्रसन्नता की लहर दौड गयी। उसने पार्टी मे आने की स्वीकृति दे दी।

महरी कॉफी लेकर आ गयी। दोनों कॉफी पीने लगी।

कॉफी पी कर नीना उठ खडी हुई। फिर बोली—'अच्छा संडे को ही शुभ सूचना मिलने पर बात बनेगी। अब मैं चलती हूँ।'

नीना तो वहाँ से चली गयी पर सोनू के दिल में उथल-पुथल मचा गयी। सोनू सोचने लगी—'आखिर नीना क्यों आयी थी? क्यो उसने संदीप और मुझे पार्टी मे बुलाने और सुलह सफाई की बात कही। संदीप! अपने आप मे एक अनबूझ पहेली है। सुन्दर सुकुमार कलियो को, पैसे के बल पर, तोड़कर रौंदने वाला यह छलिया जो अपने आप को अलबेला नौजवान जतलाता रहा है। कही परिस्थितियो से सघर्ष करते-करते यह टूट तो नही गया। कही उसने नीना को मेरे मन की थाह लेने तो नही भेजा। आज तक उसने कइयों को पतित किया है पर पत्नी का दर्जा किसी को नही दे सका। कली को सूघा, महक ली और रौंदकर फेंक दिया। इन हालातों से मैं समझौता नही कर सकी तभी तो अपने आप से उलझती रही हूँ। यदि नीना के माध्यम से भी उसने पहल की है तो मैं अपने संकल्प में जीती हूँ। मैंने स्पष्ट कहा था कि मैं टूट जाऊँगी पर झुकूँगी नही।'

सोनू पार्टी में पहुँच गयी थी। डिस्को और पॉप-सगीत की धुनें बज रही थी। नीना की निगाहें बार-बार दरवाजे की ओर उठ जाती थी। सोनू बार-बार घड़ी देखती रहती थी। आखिर पार्टी शुरू हो गयी पर संदीप नही आया।

पार्टी समाप्त होने वाली थी तभी नीना के फोन की घटी बज उठी। फोन नीना ने ही अटेंड किया। अस्पताल से संदीप के डैडी का फोन था। संदीप नशे में धुत होकर तेज स्पीड से गाडी चलाता हुआ पार्टी में शरीक होने जा रहा था। एक मोड पर गाडी उल्टी और खड्डे मे जा गिरी। गाडी मे दो लडकियाँ और थी। आग लग जाने से तीनों बुरी तरह झुलस गये। अस्पताल लाते-लाते तीनों ने ही दम तोड दिया।

जब अस्पताल ले जा रहे थे तब, संदीप ने कराहते हुए सोनू और नीना को याद किया था। पार्टी मे जाने की बात कही थी। इसी सूत्र के आधार पर उसके डैडी ने नीना को फोन किया था।

सोनू ने जब यह समाचार सुना तो वह फफक पडी। उसे लगा कि शो-पीस टूट गया है और फर्श पर पड़ी मछली छटपटा रही है। •

चरित्र-प्रमाण-पत्र

देवप्रकाश कौशिक

कमल प्रिंसिपल के ऑफ़िस से बाहर निकला, थका-थका सा। छुट्टी की घंटी बज चुकी थी। छात्र-छात्राएँ कॉलेज से ऐसे बाहर निकल रहे थे जैसे जेल से छूटे हों। अध्यापक भी अपने-अपने वाहन लेकर फाटक से बाहर निकल रहे थे। वह अपने में खोया साइकिल स्टैंड की ओर चला जा रहा था कि स्कूटर के हॉर्न से चौंक पड़ा।

अशोक खड़ा मुस्करा रहा था, 'अरे भाई फिलासफर साहब ! घर नहीं चलना है क्या ?' 'घर ? हां-आँ, तुम चलो मैं जरा देर से आऊँगा।' अशोक को देख वह वितृष्णा से भर गया।

कमल ने अपनी पुरानी साइकिल उठाई, 'ओपन एअर रेस्टोरेन्ट' पर आकर उसने साइकिल रोकी। कोने में दूर एक खाली टेबल पर वह बैठ गया। उसके मस्तिष्क में एक तूफान उठ रहा था—विचारों का, घृणा का और शायद क्रोध का। कनपटी की नसें फड़क रही थी जैसे अभी फट पड़ेंगी। उसने वेटर को एक एस्प्रो के साथ कॉफी लाने को कहा।

उसके सामने प्रिंसिपल का चेहरा बार-बार घूम रहा था। वह चाहता था किसी तरह भी अपने दिमाग से वह घृणित चेहरा काटकर दूर फेंक दे। पर वह ऐसा न कर सका। पचास वर्षीय वह प्रिंसिपल चेहरे-मोहरे से ही 'विलेन' लगता था। वह कई बार अपनी पुत्री रजनी के विवाह का प्रस्ताव रख चुका था पर वह हमेशा टाल देता था।

रजनी उन्नीस वर्षीया एक फैशन परस्त आधुनिक युवती थी। वह बी० ए० फाइनल में थी। प्रिंसिपल के आग्रह पर वह उसे अंग्रेजी-साहित्य पढ़ाने उसके घर जाता था। शीघ्र ही कमल ने जान लिया कि रजनी पढ़ाई में कम और 'दूसरी चीजों' में ज्यादा रुचि लेती है। इन 'दूसरी चीजों' में घूमना-फिरना, फिल्में देखना, जमकर फैशन करना आदि शामिल थे। वह प्रायः 'उत्तेजक पोशाक' पहनती थी। किसी न किसी बहाने से वह उससे सट जाती। और भी ऐसी कई भद्दी हरकतें करती।

एक बार वह कमल से बिहारी के शृंगार रस के दोहों का अर्थ पूछ बैठी। 'मैं तो अंग्रेजी पढ़ाता हूँ। मैं इन दोहों का अर्थ नही जानता।' कहकर उसने टालने की कोशिश की।

इस पर रजनी शरारत से बोली, सर! आप तो हिन्दी के अच्छे कवि हैं। आपकी रचनाएँ अच्छी पत्र-पत्रिकाओ मे प्रकाशित होती हैं। रेडियो पर भी आपकी कविताएँ हमने सुनी हैं। फिर आप कैसे इन दोहो का अर्थ नही जानते?'

मजबूर होकर उसे उन दोहो का जैसे-तैसे अर्थ बताना पडा। वैसे भी कमल लड़कियों से कतराता था—उनके सामने उसे अजीब-सी झिझक होती थी।

एक बार रजनी की पुस्तक मे उसे कुछ 'प्रेम-पत्र' मिले। वह उन्हे पढ़कर चौंक गया। ये प्रेम-पत्र रजनी तथा अशोक ने एक-दूसरे को लिखे थे। वह रजनी की इन हरकतो के कारण उसे पढाना नही चाहता था। एक दिन रजनी ने उसे एक चिट थमा दी। उस चिट को 'मिनी-प्रेम-पत्र' की सज्ञा दी जा सकती थी। कमल ने उसे समझाया—'ये सब अच्छी बाते नही हैं।'

फिर कई दिन तक वह रजनी को पढाने नही गया। प्रिंसिपल के पूछने पर बहाना बना दिया कि तबीयत ठीक नहीं रहती। लेकिन बहाना आखिर कितने दिन चलता। उसे फिर पढ़ाने जाना पड़ा।

कमल ट्रेंड-ग्रेजुएट-ग्रेड मे था। पिता की मृत्यु हो चुकी थी। गाँव में विधवा माँ, एक छोटा भाई तथा विवाह योग्य एक बहन रहती थी। गृहस्थी का सारा भार उसके कधो पर आ गया था। इसीलिए वह हर मामले मे सभलकर ही चलता था।

प्रिंसिपल उसे लालच दे चुके थे। रजनी से विवाह होते ही वे उसे लेक्चरर-ग्रेड दिलवा देंगे। पर वह 'विकने' के लिए तैयार नही था। अशोक और प्रिंसिपल विजातीय थे इसलिए वे उसमे 'इंट्रेस्टेड' नही थे। कमल सजातीय होने के अलावा उन्हे हर प्रकार से होनहार और योग्य नवयुवक लगता था।

आज आठवें पीरियड में कमल प्रिंसिपल के ऑफिस में 'चरित्र-प्रमाण-पत्र' लेने गया था। यह चरित्र-प्रमाण-पत्र उसे सेंट्रल स्कूल के पी० जी० टी० के पद के लिए एप्लीकेशन फार्म के साथ लगाना था। उसे प्रिंसिपल के व्यवहार पर बडा आश्चर्य और दुख हुआ।

'मैं तुम्हारे चरित्र के बारे मे कैसे जान सकता हूँ?' प्रिंसिपल ने एक क्रूर मुस्कान के साथ कहा था।

'मैं यदि आपकी लडकी के साथ विवाह कर लूँ तो क्या मेरा चरित्र अच्छा हो जायेगा?' न चाहते हुए भी कमल का स्वर कठोर हो गया।

'हाँ, ऐसा ही समझ लो।' प्रिंसिपल ने लगभग निर्लज्जता से कहा था। क्रोध

के मारे कमल कुछ न बोल सका था। प्रिंसिपल से दस-पन्द्रह मिनट बात करके ही वह बुरी तरह थक गया था। आज उसे महसूस हुआ कि आवेश और संवेग मनुष्य को कितना थका डालते है।

उसे पता भी नही चला कि कब वेटर उसकी टेबल पर कॉफी और एस्प्रो रख-कर चला गया था। 'साब' आपने अभी तक कॉफी नही पी ?' वेटर की आवाज से उसके विचारों की शृंखला टूटी। कॉफ़ी ठंडी हो चुकी थी। अतः पानी के साथ एस्प्रो गुटककर वह घर आ गया।

शाम को वह रजनी को पढ़ाने जाता था। किन्तु आज वह पढ़ाने नही गया।

लगभग सात बजे अशोक कमल के घर आया। कमल बोर तो हो ही रहा था फिर भी चाय-पानी की औपचारिकता का निर्वाह उसने किया। अशोक के बहुत पूछने पर कमल को प्रिंसिपल के साथ हुई बात बतानी पड़ी।

'कमल भाई ! तुम बेहद सीधे हो। सीधे-सादों का जमाना अब भला कहाँ। सच पूछो तो सीधो का जमाना कभी रहा ही नही। यदि सीधे-सतों का जमाना होता तो क्या गांधीजी को उनकी भलाई का इनाम तीन गोलियो के रूप मे मिलता ?' अशोक ने उसे समझाने की कोशिश की। कमल चुपचाप सुनता रहा।

'तुमसे क्या छिपाना।' अशोक थोड़ा रुककर धीमे स्वर में बोला—'रजनी से मेरे रिलेशन्स हैं। यह देखो मेरा प्रमोशन-आर्डर और 'चरित्र-प्रमाण-पत्र' भी। और अशोक ने उसे दो कागज़ थमा दिए। पहले कागज मे अशोक को लेक्चरर ग्रेड मे पदोन्नत किया गया था। दूसरे में लिखा था—'मैं श्री अशोक वर्मा को पिछले पाँच वर्षों से जानता हूँ। इनका चरित्र अति उत्तम है। मैं इनके उज्ज्वल भविष्य की कामना करता हूँ।'

कमल आश्चर्य से अशोक तथा उन कागज़ो को देखता रह गया।

'जानते हो कैसे मिले ये पत्र मुझे ? रजनी के कुछ फोटो तथा लव-लैंटर्स प्रिंसिपल को दिखा करके।' अशोक ने कमल का आश्चर्य दूर करते हुए कहा।

कमल का हृदय प्रिंसिपल के प्रति और भी घृणा से भर गया। जो प्रिंसिपल की लड़की के साथ फिल्में देखे, होटल मे घूमे और रोमांस लड़ाये उसका चरित्र अति उत्तम और इनाम में प्रमोशन !

अगले दिन प्रिंसिपल ने उसे पहले पीरियड मे ही ऑफिस मे बुलाया और एक लिफाफा थमा दिया।' कमल ने लिफाफा फाड़कर पत्र निकाला, लिखा था—'विद्यालय को आपकी सेवाओ की अब आवश्यकता नही है। आपको एक माह का नोटिस देकर आपकी सेवाएँ समाप्त की जाती हैं।'

'तो यह आपकी तुरुप चाल है ?' कमल उत्तेजित होकर बोला।

'देखो मुझे गलत मत समझो कमल व्यावहारिक बनो। एडजस्टमेंट जीवन मे

करने ही पड़ते हैं। रजनी में आख़िर कमी ही क्या है ?' प्रिंसिपल के स्वर में नम्रता थी।

कमल काफी कुछ बोलना चाह रहा था पर कुछ सोचकर रह गया।

'मैं चाहता तो नोटिस के बजाय एक माह की पे देकर तुम्हारी सेवाएँ तुरन्त समाप्त कर सकता था। किन्तु नोटिस केवल इसलिए दिया है कि तुम सोच सको।' प्रिंसिपल ने उसे समझाने के स्वर में कहा।

कमल पत्र लेकर ऑफ़िस के बाहर आ गया और सोचने लगा कि अब वह क्या करे ?

उफान और छींटे

□

विशन स्वरूप वर्मा

भरी दोपहरी !

वातावरण में अव्यक्त तनाव की एक उष्ण लहर कुछ पलों के लिए ठहर गयी। माहौल की बोझिल शांति इस तनाव को और भी अधिक मुखर कर रही थी। चाय खत्म होते ही कप प्लेटों की कटु तरंग उठी और फिर शांत हो गयी। बिना कोई ठोस निर्णय लिए वे सभी उठे और पुन. ऑफिस आ गये।

कुंती बाई सूखी, खस की टट्टियों पर पाइप से पानी छिड़क रही थी। इन लोगों के आने से उसके काम में कोई व्यवधान नहीं हुआ। केवल नजर भर देख लेनेके बाद वह पुन. अपने काम में लग गयी।

राधे, शिब्बन और ईसुरी अपने-अपने सेक्शन में चले गये। परमेश्वरन, साहब के केबिन के बाहर आकर स्टूल पर बैठ गया और जेब से बीड़ी निकाल सुलगाना ही चाहता था कि कॉलबेल बजी और उसे अनिच्छापूर्वक उठ जाना पड़ा। ट्रे में पानी का गिलास लिए वह केबिन में घुसा। जब भी वह साहब के कमरे में जाता है, इसी प्रकार ट्रे में पानी का गिलास लेकर ही जाता है। उसकी आदत ही पड़ चुकी है। पिछले साहब जब कोई काम नहीं होता तो हर पन्द्रह-बीस मिनट पर उसे पानी के लिए बुलाते थे और फिर ऐसा हुआ जब भी वह साहब के कमरे में जाता, पानी लेकर ही जाता। तब से यह आदत घर करती गयी और नये साहब के आने पर भी वही पुरानी आदत साथ दे रही थी।

भीतर जाने पर, साहब ने जब उसकी ओर घूरकर देखा, उसे उन नजरों में कुछ विशेष प्रयोजन दिखाई देने लगा। वह थोडा सा असहज हुआ और इसके साथ ही उसका हाथ हिला। गिलास का पानी छलककर ट्रे में गिरा। गनीमत यह हुई कि मेज पर पानी की बूँदें नहीं गिरीं···वरना···वरना क्या···यह उसका भ्रम मात्र था। साहब तो सिर झुकाये फाइल में व्यस्त थे।

'कुंती बाई को भेजो।' साहब ने पानी का गिलास लेकर आँखें झुकाए ही कहा।

उसे लगा कि अकेला वह साहब की नजरों को झेल नहीं पायेगा। तेजी से

बाहर निकल आया। क्या उन लोगों की गुप्त मन्त्रणा का साहब को सुराग लग गया है ? या कहीं कुती ने ही तो चुगली नहीं कर दी। कुछ भी हो, आज ऑफिस के पश्चात् फिर सबको रुकना होगा। कुती को भी। आज वे कुछ निर्णय करके ही घर जायेंगे। वह सभी चपरासियों में सीनियर है···इसीलिए उसे ही पहल करनी होगी—कुती को रोकना होगा वरना सभी चपरासियों के लिए एक गलत परम्परा की बुनियाद पड़ जायेगी। हम लोगों की नौकरी दफ्तर के लिए है। यहाँ हम से हाड़-तोड़ काम ले लो। पर घर बुलाकर बेगार लेना कहाँ का कानून है ?

कुती को इतना समझाया पर लगता है सब बेकार गया। हम लोगों के बीच काम करना है, तो उसे हमारे साथ चलना होगा। हमारी बात माननी होगी। डरने से काम नहीं चलेगा, आखिर यूनियन कब काम आयेगी ? परमेश्वरन बैठा-बैठा ही हाँफने लगा और बीड़ी के गहरे कश खींचने लगा।

जमाना कितना ही खराब हो। पर कुती के जीवन को लगा, सतयुग में जी रही है वह तो। जब गाँव के 'ग्राम-सेवक चौधरीजी' ने दौड़-धूप करके उसका नाम नियोजन कार्यालय में चतुर्थ-श्रेणी की रिक्तियाँ विज्ञापित होने पर पंजीकृत करवाया वहीं उसकी सिफारिश करने बार-बार गाँव से शहर आते। यह चौधरीजी की लगन का ही फल था या ईश्वर की अनुकम्पा, या कहें तो कुती का भाग्य जो उसकी नियुक्ति शहर में ही जन जाति-विकास-आयुक्त के कार्यालय में ही हो गयी। ड्यूटी देने आते समय एकबारगी तो वह कार्यालय की लम्बी-चौड़ी शानदार इमारत देखकर ही घबरा गयी थी कि कैसे वह यहाँ काम कर सकेगी। लेकिन ज्वाइनिंग रिपोर्ट पर हस्ताक्षर करते समय उसने साहब की नजरों में जो आश्चर्य एवं हर्ष मिश्रित प्रशंसा देखी तो वह कुछ आश्वस्त हुई। तब कहीं जाकर उसके दिल की धड़कन सामान्य हो सकी। साहब को अन्य चपरासियों की तुलना में वह कुछ ज्यादा सलीकेदार लगी। उसकी मोती जैसी लिखावट अन्य सहयोगियों के लिए ईर्ष्याजन्य योग्यता सिद्ध हुई। भले ही वह सातवीं फेल थी, पर अपनी इस तुच्छ शैक्षिक योग्यता पर भी उसे गर्व था। चौधरीजी उसके रहने का बन्दोबस्त एक परिचित के यहाँ करके गाँव लौट गये।

अभी थोड़ा ही अरसा हुआ है—उसे गाँव की जिन्दगी से बाहर निकले हुए। एक वीरान, बीहड़ और गहन अन्धकारपूर्ण भविष्य उसके जीवन से जिस प्रकार जुड़ गया था—वह कल्पना नहीं कर सकती थी कि वह कभी उससे उबर सकेगी। एक-एक दिन उसके जीवन को विषधर की भाँति सीलता प्रतीत होता था और भयावह भविष्य उसके समूचे अस्तित्व को निगलने के लिए मुँह बाए सामने खड़ा था। वैवाहिक-जीवन की खुशियाँ उसके जीवन में उतरती उससे पहले ही वैधव्य

का अभिशाप उसके तन-मन पर छा गया। जैसे-जैसे उम्र बढ़ती गयी, घर मे जवान विधवा बेटी को देखकर माँ की आँखों की करुणा और बेबसी और भी हृदय-द्रावक होती गयी। माँ का मौन और निरीह छटपटाहट, उसके अन्तर की पीड़ा बनकर, रातों मे उसकी आँखों के रास्ते पिघल-पिघलकर बहने लगती। वह घर के काम-काज निबटाती थी और माँ की दिन भर की खेतिहर मजदूरी से रोटी का जुगाड़ जैसे तैसे बैठ पाता था।

माँ को दिन-प्रतिदिन क्षीण होते देखकर उसे भविष्य अंधकारमय ही नजर आता था। हालात और भी बदतर बन जायें इससे पहले ही उसने अपने लिए आर्थिक आधार ढूँढ़ना प्रारम्भ कर दिया। और अन्ततः वह आधार उसे मिला भी। अब वह छुट्टी के दिन जाकर माँ को सम्भाल आती है।

उसके काम से साहब खुश थे। सहयोगियों से उसकी अच्छी पटती थी। दर-असल उसकी स्वभावगत कार्य-निष्ठा और व्यवहार कुशलता ने सबको वशीभूत कर रखा था। सब कुछ ठीक चल रहा था कि तभी वह हादसा गुजर गया।

···उस दिन साहब ने उसको केबिन मे बुलाकर कहा—'कुंती बाई ! दो दिन ऑफिस नही आना है तुम्हे···मेरा टूर प्रोग्राम है···बँगले पर ही मेम साहब के साथ रहना है तुम्हें···समझ गयी···कोई दिक्कत···!' 'कोई दिक्कत नही साब ! दिक्कत कैसी !' सदा की भाँति कुंती ने सिर झुकाए नम्र शब्दो मे कहा और वह, किसी को कुछ बताए बिना ही साहब के बँगले पर पहुँच गयी।

मेम साहब उसे साहब से भी अधिक भली लगी। कुंती के सुघड़ सुन्दर चेहरे और निश्छल-मासूमियत ने तो मेम साहब को उससे अपनापन जोड़ने पर जैसे मजबूर ही कर दिया। उसने दिन मे झाड़ू-बुहारा किया, रात के खाने में मदद की, आया के नही आने पर वह मेम साहब की फूल-सी कोमल बेटी को पास के पार्क में शाम को घुमा भी लायी। मेम साहब तो जी-जान से उसके काम और व्यवहार पर न्यौछावर हुई जा रही थी। चपरासियों की जानी पहचानी छवि से बिल्कुल भिन्न थी यह कुंती। मेम साहब के स्नेहासिक्त व्यवहार से वह भी कुछ समय के लिए भूल गयी कि वे एक उच्च अधिकारी की पत्नी है, मालकिन हैं और वह मात्र एक चपरासिन···एक नौकर !

दो दिन पश्चात जब वह ऑफिस पहुँची तो प्रफुल्लित थी, अतिरिक्त उत्साह से भरी हुई। लेकिन उसकी यह उल्लसित उमग अधिक स्थिर न रह सकी।

'कुंती बाई ! साहब के घर नही जाने का। अपुन लोगों को साहब के घर का काम करना नही मांगता। यह हम चपरासियो के उसूलों के खिलाफ है···' परमेश्वरन ने आते ही उस पर जैसे वज्रपात किया।

चारों सहयोगी भी उसे घेरकर खड़े हुए थे। परमेश्वरन क्या कह रहा है ?

वह सकते में आ गयी। उसका चेहरा विवर्ण हो गया।

कुंती को लगा कि उसके इर्द-गिर्द खड़े हुए चारों होकर, कठघरे की चारदीवारी है और वह एक अः बोलते नहीं बना।

'ये साड़ी मेम साहब ने दी है?' कुंती चुप रही।

'और ये बिलौज भी?' पुनः चुप्पी।

'और ये···!' आगे कुछ बोलता-सा परमेश्वरन अचा वह जानता था कि ब्लाउज के अन्दर जो कुछ कुंती ने पह का कुंती के पास ना बूता और न ही हैसियत।

तभी साहब की जीप आती दिखाई दी। तब कहीं जा मुक्ति मिल सकी।

कुंती की समझ में नहीं आया कि यदि वह साहब के ऐसा कौन-सा गुनाह उसने कर दिया। साहब टूर पर थे। मेम बड़े बंगले में अकेली कितनी घबरा रही थी। इतने बड़े अफस भी अभिमान लेशमात्र नहीं। वह जाने के लिए किस मुँह से क्वार्टर में यह तीन-चार बार साहब के बंगले पर गयी थी। सुनाती, उसे मना करते नहीं बनता। हालांकि उसने पूरी किसी को पता नहीं लगे। परन्तु परमेश्वरन पूरा काइयाँ था। बार उसे पता लग ही जाता था।

ऑफिस बन्द हो चुका था।

[illegible] पारो हुनर [illegible] थे और पूरी तरह उसकी [illegible]

[illegible] थे [illegible] लगी [illegible] फुरसत में अज्ञात प्रेरणा के वशीभूत [illegible] दिया कि आज [illegible] मेम साहब ने शाम को [illegible] था—साहब के साथ। उनके [illegible] पार्टी [illegible] थी। [illegible] में ऑफिस के सामने वाले [illegible] [illegible] से अब [illegible] आ जुटे थे। अब उन्होंने कुंती कर दिया था।

यूनियन की लफड़ेबाजी में पड़ने को नहीं बोलता है, पर तुम्हारे साथ कोई बेइंसाफी हो, तो वे यूनियन ही साथ देती है। जानती हो तुम ? खुद समझदार हो···कल को हमारे को दोष नहीं देने का···'

'अरे यार ! काम तो ऐसा होना चाहिए कि सांप भी मर जाए और लाठी भी ना टूटे। कोई भी बहाना बना दो···नहीं तो जो काम बताया जाए उसे ऐसा करो कि साला दुबारा कराने का कोई नाम तक न ले···तुम्हें तो मालूम ही है परमेश्वरन भाई···' ईश्वरी बोल रहा था—'सिन्हा साहब के बेटे की बर्थ-डे-पार्टी थी। ट्रे में चाय लाते टाइम स्टूल से जान-बूझकर ऐसा टकराया कि उनका कीमती टी-सेट चकनाचूर हो गया। उसके बाद घर पर बुलाने का नाम नहीं लिया।'

'मुझे ही लो···' राधे ने तम्बाकू में चूना मिलाते हुए कहा, 'चोपड़ा साहब की बीवी ने एक बार कपड़े धोने बैठा दिया तो रेशमी साड़ी को पीट-पीटकर ऐसा धोया कि बर्तन वाली उसके बदले एक कटोरी भी न दे···साली का···' और वह ही-ही करने लगा।

'अरे वो तो भटनागर साहब को थोड़ा शक हो गया था, वरना मैंने तो उनकी एल्बम से ऐसी-ऐसी फोटुएँ पार की थीं कि छपने पर साला शहर में कहीं मुँह दिखाने लायक नहीं रहता।' शिब्बन ने अपने कसरती बदन पर बर्दी की बाँहें चढ़ाते हुए कहा।

'तो कुंती बाई ! देख लिया तुमने।' परमेश्वरन ने एक पल रुककर, समझाते हुए नरमी से कहा—'अपुन को किसी से बिगाड़ने का नहीं···अपना नफा-नुकसान अपने को देखना है···अपने को थोड़ा कड़क, थोड़ा मजबूत रहने का···साहब किसी को खायेगा नहीं···बोलो क्या कर लेगा साहब, बोलो···।'

तय यही हुआ कि आज शाम कुंती जब साहब के घर जाए तो साफ-साफ शब्दों में दो-टूक बात करनी है कि वह घर पर काम नहीं कर सकेगी। आखिर हम लोगों का भी तो कोई स्वाभिमान है।

शुरू-शुरू में तो यह बात कुंती के गले नहीं उतरी कि कैसे वह मेम साहब से काम के लिए मना करेगी···कितने प्यार से तो वह उसे रखती हैं···बिल्कुल छोटी बहिन की तरह···कितनी स्नेहासिक्त वाणी है उनकी···शहद से भी मीठी···और उसे अब कैसे-कैसे कड़वे, जहर-से, शब्द बोलने होंगे। उनकी वह छोटी गुड़िया कितना हिल गयी है उससे, केवल तीन-चार बार उसे खिलाने भर से ही। कितना कठोर करे वह अपने दिल को और कैसे बदले अपने अन्तरमन को !

लेकिन साथ ही तराजू का दूसरा पलड़ा सामने आ जाता था। क्या ग़लत कह रहे हैं ये लोग ? अपने भले के लिए ही तो कहा है। अपनी भलाई अपने लोगों से मिलकर चलने में ही है। भला पानी में रहकर मगर से बैर हो सकता है। एक साथ चारों काइयाँ चेहरे उसकी आँखों के सामने आ गये।

वह सकते में आ गयी। उसका चेहरा विवर्ण हो गया।

कुती को लगा कि उसके इर्द-गिर्द खड़े हुए चारों सहयोगी जैसे सहयोगी न होकर, कठघरे की चारदीवारी हैं और वह एक अक्षम्य अपराधी। उससे कुछ बोलते नहीं बना।

'ये साड़ी मेम साहब ने दी है?' कुती चुप रही।

'और ये ब्लाउज भी?' पुनः चुप्पी।

'और ये...!' आगे कुछ बोलता-सा परमेश्वरन अचानक चुप हो गया। लेकिन वह जानता था कि ब्लाउज के अन्दर जो कुछ कुती ने पहन रखा था, उसे खरीदने का कुती के पास ना बूता और न ही हैसियत।

तभी साहब की जीप आती दिखाई दी। तब कहीं जाकर उसे उस कठघरे से मुक्ति मिल सकी।

कुती की समझ में नहीं आया कि यदि वह साहब के घर चली भी गयी तो ऐसा कौन-सा गुनाह उसने कर दिया। साहब टूर पर थे। मेम साहब बेचारी इतने बड़े बँगले में अकेली कितनी घबरा रही थी। इतने बड़े अफसर की बीवी होते हुए भी अभिमान लेशमात्र नहीं। वह जाने के लिए किस मुँह से मना करेगी। इसी ऊहापोह में वह तीन-चार बार साहब के बँगले पर गयी थी। जब भी मेम साहब बुलाती, उससे मना करते नहीं बनता। हालाँकि उसने पूरी सतर्कता बरती कि किसी को पता नहीं लगे। परन्तु परमेश्वरन पूरा काइयाँ था। पता नहीं, कैसे हर बार उसे पता लग ही जाता था।

ऑफिस बन्द हो चुका था।

वे चारों कुशल खिलाड़ी थे और पूरी तरह उसको जिबह करने पर तुले थे। कुती बाई ने पता नहीं किस कुघड़ी में अज्ञात प्रेरणा के वशीभूत हो, दोपहर लंच से पहले ही बता दिया कि आज फिर मेम साहब ने शाम को बँगले पर बुलाया है, फोन आया था—साहब के पास। उसके पश्चात् ही चारों की गुप्त मन्त्रणा हुई थी। लंच टाइम में ऑफिस के सामने वाले रैस्टोरेन्ट में। लेकिन कुछ निश्चय नहीं होने से अब वे सब पुन. आ जुटे थे। अब उन्होंने कुती को भी शामिल कर लिया था।

परमेश्वरन दो टूक बात करता है—'देखो कुती! तुमसे पहले भी कहा जा चुका है। हम लोगों के साथ काम करना है तो अपने उसूलों पर चलने का। काम केवल ऑफिस में ही करने का...कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता...कानून भी नहीं। साहब के घर पर काम करना तो और भी गैर कानूनी है। तुम अपने स्वारथ की खातिर हमारे पैरों पर कुल्हाड़ी मत मारो...तुम डरता काहे को है। हम लोग तुम्हारा पीछू है। कल को बात आउट होगा तो यूनियन को जवाब कौन देगा? तुमको

यूनियन की लफड़ेबाजी में पड़ने को नहीं बोलता है, पर तुम्हारे साथ कोई बेइंसाफी हो, तो वे यूनियन ही साथ देती है। जानती हो तुम ? खुद समझदार हो···कल को हमारे को दोष नहीं देने का···'

'अरे यार ! काम तो ऐसा होना चाहिए कि साँप भी मर जाए और लाठी भी ना टूटे। कोई भी बहाना बना दो···नहीं तो जो काम बताया जाए उसे ऐसा करो कि साला दुबारा कराने का कोई नाम तक न ले···तुम्हें तो मालूम ही है परमेश्वरन भाई···' ईश्वरी बोल रहा था—'सिन्हा साहब के बेटे की बर्थ-डे-पार्टी थी। ट्रे में चाय लाते टाइम स्टूल से जान-बूझकर ऐसा टकराया कि उनका कीमती टी-सेट चकनाचूर हो गया। उसके बाद घर पर बुलाने का नाम नहीं लिया।'

'मुझे ही तो···' राधे ने तम्बाकू में चूना मिलाते हुए कहा, चोपड़ा साहब की बीवी ने एक बार कपड़े धोने बैठा दिया तो रेशमी साड़ी को पीट-पीटकर ऐसा धोया कि बर्तन वाली उसके बदले एक कटोरी भी न दे···साली का···' और वह ही-ही करने लगा।

'अरे वो तो भटनागर साहब को थोड़ा शक हो गया था, वरना मैंने तो उनकी एल्बम से ऐसी-ऐसी फोटुएँ पार की थी कि छपने पर साला शहर में कहीं मुँह दिखाने लायक नहीं रहता।' शिब्बन ने अपने कसरती बदन पर वर्दी की बाँहें चढ़ाते हुए कहा।

'तो कुंती बाई ! देख लिया तुमने।' परमेश्वरन ने एक पल रुककर, समझाते हुए नरमी से कहा—'अपुन को किसी से बिगाड़ने का नहीं···अपना नफा-नुकसान अपने को देखना है···अपने को थोड़ा कड़क, थोड़ा मजबूत रहने का···साहब किसी को खायेगा नहीं···बोलो क्या कर लेगा साहब, बोलो···।'

तय यही हुआ कि आज शाम कुंती जब साहब के घर जाए तो साफ-साफ शब्दों में दो-टूक बात करनी है कि वह घर पर काम नहीं कर सकेगी। आखिर हम लोगों का भी तो कोई स्वाभिमान है।

शुरू-शुरू में तो यह बात कुंती के गले नहीं उतरी कि कैसे वह मेम साहब से काम के लिए मना करेगी···कितने प्यार से तो वह उसे रखती हैं···बिल्कुल छोटी बहिन की तरह···कितनी स्नेहासिक्त वानी है उनकी···शहद से भी मीठी···और उसे अब कैसे-कैसे कड़वे, जहर-से, शब्द बोलने होंगे। उनकी वह छोटी गुड़िया कितना हिल गयी है उससे, केवल तीन-चार बार उसे खिलाने भर से ही। कितना कठोर करे वह अपने दिल को और कैसे बदले अपने अन्तरमन को !

लेकिन साथ ही तराजू का दूसरा पलड़ा सामने आ जाता था। क्या गलत कह रहे हैं ये लोग ? अपने भले के लिए ही तो कहा है। अपनी भलाई अपने लोगों से मिलकर चलने में ही है। भला पानी में रहकर मगर से बैर हो सकता है। एक साथ चारों काइयाँ चेहरे उसकी आँखों के सामने आ गये।

जैसे-जैसे कुंती का मानस परिवर्तन हो रहा था, वैसे-वैसे उसे यह काम और भी आसान लगता जा रहा था। मीठी-मीठी बातों से अपना काम निकालना ये बड़े लोग खूब जानते हैं। मैं भी बेवकूफ थी जो एक चाय के प्याले में बिक गयी थी। एक साड़ी क्या दे दी, जैसे खरीद लिया हो'''वक्त-बेवक्त बंगले पर आना-जाना'''रात को वहीं ठहरना'''आखिर वह औरत-जात ठहरी'''बड़े लोगों की नीयत का क्या ठिकाना? कल को कोई ऊँच-नीच हो जाए, तो वह कहीं की नहीं रहेगी।

विद्रोह और आक्रोश के ज्वार उसकी छाती में हिलोरें मारने लगे। अब वह पूर्ण समर्थ, शक्तिशाली और स्वाभिमानी औरत बन गयी थी। उसके बोलने, चलने-बैठने के अन्दाज में एक पैनापन आता जा रहा था। अपने व्यक्तित्व में हो रहे परिवर्तन से वह स्वयं चकित थी। सबसे बड़ी बात तो यह थी कि स्थिति का सही विश्लेषण करने की उसमें क्षमता विकसित हो चुकी थी। वह देर से सँभली '' पर सही समय पर सँभल गयी—यही सन्तोष था। भला हो इन हितैषी साथी-सहयोगियों का।

ऐसा तो कभी नहीं हुआ! एकदम अप्रत्याशित!

वह इस स्थिति के लिए कतई तैयार नहीं थी। वह क्या-क्या उगलने के लिए यहाँ आयी थी। और दिनों तो वह सीधी ड्राइंग रूम से होती हुई किचन या बेड-रूम, जहाँ भी मेम साहब होतीं, पहुँच जाती। आज वह ड्राइंगरूम में बैठी रही। कि मेम साहब स्वयं हाथ में चाय के दो प्याले लिए ड्राइंगरूम के दरवाज़े पर खड़ी थीं। मिश्री-सा मधुर, वात्सल्यपूर्ण, निष्कपट उलाहना उसके कानों में वीणा के तारों-सा झंकृत हो रहा था—'बड़ी देर कर दी, कुंती! आज तो तुमने। कितनी देर से इन्तजार कर रही हूँ। साहब, सुबह ही कह गये थे कि आज क्लब की मीटिंग में जाना है, रात देर से लौटेंगे। इसीलिए मैंने ड्राइवर से नाइट शो के दो टिकट मँगवा रखे हैं। चल'''चाय पीकर जल्दी से खाना बनाने में मदद कर दे। लौटकर गर्म कर लेंगे और तुझे भी यहीं खाना है। रात को यहीं सो जाना'''साड़ी आज तुझे मेरी पसन्द की पहननी पड़ेगी'''देख! मना मत करना'''।'

दो-तीन घंटे पूर्व ही पूर्णता को प्राप्त हुआ उसका व्यक्तित्व सहसा खण्ड-खण्ड हो गया। आक्रोश और विद्रोह का समन्दर, जो यहाँ आने से पहले तक ठाठें मार रहा था'' खामोश था। भावनाएँ, वाणी, मन-मस्तिष्क सभी पर जड़त्व प्रभावी हो गया। हाथ में चाय का खाली प्याला लिए वह आगे बढ़ी, मेम साहब के हाथ से उनका खाली प्याला लिया'''और उसके कदम रसोई की ओर बढ़ गए। •

जिन्दा गोश्त

□

सत्य शकुन

उम्र एक ऐसे दौर मे से होकर भी गुजरती है, जबकि जीवन हर दृष्टि से बसतमय नजर आता है। अभावों और मजबूरियों को दरकिनार करते हुए, मनुष्य इस गुजरते दौर का हर क्षण जीना चाहता है। हर क्षण को स्थाई मानकर, उसे अपना बना लेना चाहता है। स्वर्ग की-सी सुखानुभूति का यह दौर बडी जल्दी खत्म हो जाता है। सुख की घड़ियाँ, बीते जमाने की बाते बनकर रह जाती है।'

मोतीराम टूटी खाट पर बैठा, अपनी बीती हुई अमूल्य घडियो की लड़ियों को गूँथने मे लगा हुआ था। अचानक विचारधारा मे अवरोध उत्पन्न हुआ।

'घर मे मुट्ठी भर आटा भी नही है। खाली बैठे हो, जगल से लकड़ियाँ लाकर बेच-बाच कर ही कुछ जुगाड बिठाते।'

'तेरा तो यह रोज का काम है। जब भी सुनो'''यह नही है, वह नही है। कान पक गये हैं। तू मेरे सामने मत आया कर।' मोतीराम बिदका।

'अब मैं दुश्मन नजर आती हूँ। वे दिन याद करो, जब घंटों तुम मुझे अपने सामने बिठाए रखते थे।'

'वे दिन गये।'

'बडे मतलबी हो। मैं अपने पेट के लिए तुम्हारे सामने नही आती हूँ। बच्चो की भूख, तुम सहन कर सकते हो पर मुझसे सहन नही होती।'

'अच्छा, अच्छा !! जाता हूँ। जगल से लकड़ी लाना भी तो अब आसान नही रहा। सुना है, सरकार ने कुछ नये इन्तजाम किये हैं। यह सरकार भी क्या कर रही है, कुछ समझ मे नही आ रहा है ! हमारे जंगल और हम पर ही बंदिश। हम आदिवासी, जिनका सहारा ही जगल रहा है'''कैसे जियें ? इस बात को कोई नही विचारता।'

बड़बड़ाता हुआ मोतीराम, खाट पर से उठकर बाहर निकल आया। पीछे से पत्नी ने कहा—'समय पर आ जाना।'

वह सरकारी व्यवस्था को कोसता हुआ चला जा रहा था कि पीछे से किसी ने पुकारा। वह पलटा। आवाज देने वाला दामजीपुरा का समृद्ध किसान-व्यापारी

सुगना था।

'कहाँ चल दिये—भाई ?'

'जंगल।' मोतीराम ने संक्षिप्त उत्तर दिया।

'समझा···समझा···गट्ठर मेरी टाल पर पटक जाना। अच्छे दाम दे दूँगा। वह साला चालू है न···लूटता है साला। टाल पर से ही कुल्हाड़ी ले लेना। नयी मँगवाई है। काम जल्दी हो जायेगा और आवाज भी कम होगी।' सुगना कुटिल हँसी हँसा। मोतीराम कुछ नहीं बोला।

'देख—भाई, चोरी तो चोरी होती है। होशियारी रखनी पड़ती है।'

'तुम चोरी का माल खरीदते हो। चोरी करवाते हो। चोर पकड़ा जाता है, तो तुम किनारे हो जाते हो। सबको पता है चोरी का माल तुम्हारी टाल पर पड़ा है फिर भी तुम्हें कोई कुछ नहीं कहता। पुलिस···जंगलात के लोग आँखें मूँद लेते हैं। ऐसी होशियारी सिखाओ तो बात बने।' मोतीराम व्यंग्य से बोला। सुगना ने उसकी बात का बुरा नहीं माना अपितु निर्लज्जता से हँसने लगा। फिर बोला—'इस जमाने में कौन चोर नहीं है ?'

'अरे! हम तो चोरी अपने पेट के लिए करते हैं पर तुम लोग!···' मोतीराम उफना।

'अरे! तुम तो बात का बतंगड़ बना रहे हो। आओ···कुछ देर···टाल पर बैठेंगे।'

'नहीं—मेरे पास समय नहीं है। शाम की रोटियों का जुगाड़ पहले करना है।'

'अरे! बस इतनी-सी बात है।'

'इतनी-सी बात तुम्हारे लिए हो सकती है। मेरे लिए तो जीने-मरने की बात है।'

'अरे! आओ तो।' सुगना उसका हाथ पकड़कर अपनी टाल पर ले आया। सुगना ने अपना नौकर भेजकर दो किलो आटा मँगवाया।

'लो—पहले यह आटा घर दे आओ फिर बातें होंगी।'

मोतीराम 'ना' करना चाहता था पर बच्चों और पत्नी का चेहरा उसके आगे आ गया। उसने आटा उठाया और घर रवाना हो गया। कुछ ही देर में वह वापस आ गया। सुगना उसकी प्रतीक्षा कर रहा था।

''बैठो, 'सब चोर हैं' यहीं से बात शुरू करता हूँ। मैं भी चोर हूँ। तुमने मेरे विरुद्ध गाँव के लोगों को भड़काया था। इसीलिए न···कि मैंने लक्खू की मदद नहीं की। तुम पुलिस में गये···जंगलात वालों को बुला लाये। तुम भोले हो। अरे! यह बातें किसे पता नहीं हैं ?'

'मैं समझता था···न्याय होगा। लक्खू की लाई लकड़ियाँ तुम्हारे टाल में बरामद हुई थीं न ?'

'न्याय !' सुगना ने अट्टहास किया। हँसता हुआ बोला।

'वाह रे ! भगवान, तूने कितने भोले इन्सान पैदा किये हैं।'

'अंग्रेजों के राज में तो ऐसा होना सुना था लेकिन अब तो हम आजाद हैं। सब बराबर हैं फिर ऐसा क्यों ?'

'तुम थोड़ा लिख-पढ़ गये तो अजीब-अजीब ख्वाब देखने लगे। तुम आजाद हो ?...अपने को आजाद समझते हो ? मेरे भाई, जिस आजादी की तुम बात कर रहे हो वह न कभी आयी है और ना कभी आयेगी। आजादी होती; तो तुम जैसे हजारों लोग, हमारे जैसे किसानों के यहाँ साल भर के लिए सौ रुपये नकद और तीन-चार बोरे अनाज के लिए काम न करते। अपनी बहू-बेटियों की इज्जत जने-जने से खराब न करवाते। मैं झूठ तो नहीं बोल रहा हूँ ना ?'

सुगना ने शान से मोतीराम की ओर देखकर प्रश्न किया। उसे चुप देखकर सुगना ने पुनः बोलना शुरू किया।

'मैं लिक्खू की मदद जरूर करता। वह तुम्हारा दोस्त था। तुमने ऐसे मौके पर टाँग अड़ाई कि सब गुड़-गोबर हो गया। तुम बताओ...उसका क्या भला कर दिया—तुमने ? उसकी बेटी की इज्जत खराब करवा दी।'

'क्या कहते हो ?' आक्रोश से मोतीराम बोला।

'शान्त...शान्त...भाई। क्रोध से अपनी हानि होती है। जैसे तुमने अपनी की है। इतने दिन रोटी-रोटी को तरसे। आखिर कुल्हाड़ी फिर उठानी पड़ी। तुम लोगों के लिए दो ही रास्ते हैं। या तो खेतों में काम करो और या फिर जंगल जाओ। दोनों रास्तों पर चलने के लिए, तुम लोगों को हमारे सहारे की जरूरत है। अकेले जाओगे तो लिक्खू वाली भुगतनी पड़ेगी। तुम समझते हो कि जंगल से लकड़ी लाते समय तुम्हें जंगलात वाले नहीं देखते ? अरे ! वे तो हमारे कारण आँखें बंद किये रहते हैं। हम उनका पेट नोटों से भरते हैं। मुझसे झगड़ा करके लिक्खू ने अपनी बेटी को जंगल भेजा। पाँच-सात महीने वह लकड़ी लाती रही। लिक्खू ने सोचा काम चल पड़ा। काम चल रहा था पर कीमत देकर। बिना दाम लिए कौन जंगल से लकड़ी काटने देगा ? अब सुना है उसकी बेटी के पेट रह गया है।'

'तुम सब एक ही थैली के चट्टे-बट्टे हो। मोतीराम घृणा से बोला।'

'घृणा थूको—भाई। प्यार-मोहब्बत से जीवन काटो। मिल-जुलकर काम करो। अब तो सरकार ने जंगलात वालों को हथकड़ी लगाने तथा गोली चलाने का अधिकार भी दे दिया है।'

'इससे क्या फायदा होगा ?'

'फायदा कुछ भी नहीं होने का। अरे ! ऐसा करने से जंगल कटने से बच जायेंगे क्या। हाँ, हम जैसों को अब भेंट-पूजा कुछ ज्यादा ले जानी पड़ेगी।'

'ऐसा करके सरकार, हमें क्यों मारने में लगी है। हम इन्हीं जंगलों में पैदा हुए हैं। हमारे ही जंगल, और हम पर ही लकड़ी काटने की रोक। अच्छा तमाशा है। हम जलाने की लकड़ी कहाँ से लायें। हमारे बाप-दादा जमाने से इन्हीं जंगलों से लकड़ियाँ काटते रहे हैं। जंगल तो जैसे के तैसे रहे। अभी कुछ सालों से अचानक ख़त्म कैसे होने लगे? हम शहरों से कोसों दूर रहने वाले लोग, तो जिन्दा ही जंगलों में रहते आये हैं।'

'शहरों में, बड़ी-बड़ी हवेलियों में बैठे रहने वाले अफसरों को, तुम जैसे दूर-दराज के आदिवासियों के जीवन का क्या पता? उन्होंने कब जंगल देखे हैं? वहीं बैठकर वे तुम लोगों का विकास करते हैं।' सुगना हँसा।

'ठीक है···ठीक है, तुम सब भेड़िए हो। लाओ मुझे कुल्हाड़ी दो।'

'अरे बैठो—कल ज्यादा ले आना। हट्टे-कट्टे हो, यह शरीर क्या काम आएगा!'

'तुम लोगों के काम आ रहा है न?' मोतीराम ने व्यंग्य कसा।

'अरे! तुम्हारी इन बातों पर ही तो मैं लट्टू हूँ।' सुगना बेशर्म हँसी हँसा।

'तुम्हारा कहना ठीक है—हमारे लिए तो आजादी आयी ना आयी बराबर है। पहले कम से कम दो रोटी तो आराम से मिल जाती थी। सुना है—हरखू अपने खेत से सड़ी-गली लकड़ियाँ ला रहा था तभी जंगलात वालों ने उसे पकड़ लिया था। कुछ ले-देकर छूटा है।'

'अब तुम बात समझे। हरखू ले-देकर छूट गया। यह अच्छा रहा वरना हथकड़ियाँ पड़ती। तुम जानते ही हो हथकड़ियाँ पड़ने का मतलब, पूरे समाज को भोज-पानी दो। भोज-पानी का मतलब तकरीबन दो हजार रुपए का खर्चा, नहीं दो; तो समाज में उठने-बैठने से गए। पेशियाँ भुगतो सो अलग। यहाँ से कचहरी पहुँचने में दस दिन लगते हैं। दसियों नदी-नाले पार करने पड़ते हैं।'

'लेकिन उसका कुसूर क्या था?' मोतीराम ने पूछा।

'इस पिछड़े इलाके का गरीब निवासी होना ही उसका कुसूर था···समझे। इतनी बड़ी दुनिया के होते हुए, मध्य प्रदेश के इस आदिवासी जिले बैतूल में जन्म लेना ही उसका सबसे बड़ा कुसूर था।'

'यहाँ तो तुमने भी जन्म लिया है?' मोतीराम बोला।

'लिया है—तभी तो तुम लोगों को पाल रहा हूँ।'

'पाल रहे हो या खुद पल रहे हो।'

'अरे तुम्हारी यही बातें तो मुझे ले बैठती हैं।'

'काश! हम लोग पढ़े-लिखे होते। हमारी गरीबी, अशिक्षा और रूढ़िवादिता का तुम लोग फायदा उठा रहे हो। हरखू को अगर समाज को भोज-पानी देने का डर न होता तो हथकड़ियाँ उसका क्या बिगाड़ लेती?'

'बस—तुम्हारा यही सोच मुझे पसन्द नही है। तुम आठवी तक पढे हो। तुमने कौन से तीर मार लिए।'

'मैं सच कह रहा हूँ।'

'सच ही तो बेड़ा गर्क कर रहा है। खैर! छोडो—अब काम की बात करते है। मैंने फैसला किया है कि जो लोग मेरी टाल के लिए लकडी लाएँगे, उनका पूरा बचाव मैं करूँगा। क्यो ठीक है ना?' मुस्कराते हुए सुगना ने मोती की ओर देखा।

'बिल्कुल—वे जब तुम्हारे लिए चोरी करेंगे, तो उन्हे बचाना तुम्हारा धर्म होगा।'

'छी.···छी. चोरी नही, नौकरी कहो। तुमने टालो पर लकडी के बडे-बड़े लट्ठे देखे होंगे। वे चोरी के हैं। रात के अंधेरे मे काटकर इन्हें इधर-उधर पहुँचा दिया जाता है। तुम लोग तो दिन में सबके सामने सिर पर लादकर लकड़ियाँ लाते हो। यह चोरी नही है—समझे।'

'बेकार की बहस मे मत उलझो। आगे बात करो।'

'तुम जानते हो, बचाव मुफ्त में तो होगा नही। जो लोग मेरी टाल के लिए आधी कीमत में लकडियाँ लायेंगे। मैं उनकी हर दृष्टि से रक्षा करूँगा। लाबू··· साला···तुम लोगों की चमडी से दमडी कमा रहा है। मैं वैसा नही हूँ।'

'इतना बोझा लाने के बाद, तुम आधी कीमत दोगे तो लाने वाले के लिए बचेगा क्या?'

'शाम-सुबह का चुग्गा। क्यो? इतना काफी नही है क्या?' सुगना ने अपने पीले दाँत दिखाए। मोती सोच मे डूबा था। सुगना पुन. खीसें निपोरते हुए बोला।

'लाबू···दीनू···की टॉल पर क्या कुछ होता है···किसी से छिपा नही है। अरे! तुम्हारी बहन-बेटी, मेरी बहन-बेटी है, पर वे इस बात को नही मानते हैं। इसीलिए वे ज्यादा भी दे सकते हैं। मैं तो ईमानदारी पर चलता हूँ। कीमत आधी ही दूँगा। बोलो क्या कहते हो? मैं तुमसे समझौता करना चाहता हूँ। कल से अपने आदमियों को लेकर आ जाओ।'

'फिर किसी के साथ लिखू वाली हुई तो?' मोतीराम ने आश्वासन चाहा।

'नही होगी।'

'और उसकी बेटी के मामले का क्या होगा? उसे जंगलात वाले ने ब्याह का झाँसा दिया था।'

'यह गलत है। लकड़ियाँ लाने की बात पर यह खेल खेला जा रहा था।' 'ब्याह' जैसी महँगी कीमत पर; ऐसा खेल, कौन मूर्ख खेलेगा।'

'तुम उससे बात तो करो।'

'यह अब यहाँ---कहाँ ! खैर तुम्हारे कारण, बच्चा गिराने के लिए पैसे मैं दे सकता हूँ।'

'और कोई रास्ता नहीं है ?'

'नहीं—लेकिन मेरी शर्त यह होगी, कि बाप-बेटी दोनों को मेरे यहाँ दो जून की ज्वारी-बाजरे पर साल भर काम करना होगा।'

'तुममे कुछ शर्म बची है या नहीं। तुम सब जिन्दा गोश्त के खरीदार हो।'

'मिलता है, तो क्यों ना खरीदें ?'

'ठीक है --बिकेगा, और कोई रास्ता भी नहीं है।'

मोतीराम उठकर बाहर आ गया। कदमों को घसीटता हुआ, वह घर की ओर रवाना हो गया। उसके बाहर निकलते ही मुखना बड़बड़ाया 'साला—बड़ा तीसमारखाँ बनता था। उल्लू आखिर आ गया ना रास्ते पर। साल भर से परेशान किए बैठा था। अब साला झक मारकर अपने बापों को लाएगा। सालों को सड़ा अनाज न खिलाया तो मुखना नाम किस का ?'

मोतीराम घर पहुँचा और अपनी उसी पुरानी खाट पर निढाल होकर पड़ गया। कुछ देर में उसकी पत्नी आ गई, मधुर स्वर में बोली।

'तबीयत तो ठीक है ?'

'तबियत को क्या होना है। तुम खुश, तो मैं भी खुश। मैं सोच रहा हूँ, काश ! यह पेट न होता, तो सुख की घड़ियाँ कभी खत्म न होतीं। इस पेट ने हमें जिन्दा गोश्त बनाकर रख दिया है, जिसे पैसे वाले खरीदें, फिर भकोसें या अपनी तोंद पर परत दर परत चढ़ाते जायें।' लम्बी साँस लेकर, मोती ने करवट बदल ली।

चिड़िया और साँप

□

भगवतीलाल व्यास

यह महज मनोविनोद नहीं था। अगर मनोविनोद ही करना होता तो वह उसे बन्दर और गधे की कहानी सुना सकती थी। मैं नहीं जानता कि उसे बन्दर और गधे के चरित्रों को लेकर कोई कहानी याद भी थी या नहीं। अगर याद भी होती तो शायद उसे कहना अच्छा न लगता। जहाँ तक कहानी कहने का प्रश्न है वही कहानी कही जाती है जिसमें कथनकर्ता का मन रमता है। पंचतंत्र में इस तरह की कई कहानियाँ हैं। मगर हम पंचतंत्र की बात क्यों करें? हम जनतंत्र में जीने वाली शताब्दी का हिस्सा हैं फिलहाल। यह भी कैसी विडम्बना है कि निश्चय वाचक विशेषण से अनिश्चय वाचक विशेषण तक की यात्रा में हमारा सब कुछ अनिश्चित हो गया है।

वह शयन-यान में यात्रा कर रही थी। उसके साथ उसका तीन-साढ़े तीन साल का बच्चा था। जब स्टेशन से गाड़ी चली तो रात आठ बजे का समय रहा होगा। उसकी बर्थ ऊपर थी। उसने अपने बच्चे के सामने चित्रों वाली एक किताब खोल दी। हर पृष्ठ पर एक चित्र था और एक शब्द। वह एक-एक पृष्ठ पलटती जा रही थी और उन शब्दों को ज़ोर-ज़ोर से पढ़ती जा रही थी। बच्चा उसका अनुकरण कर रहा था। रेल में पाठशाला जैसा दृश्य उपस्थित हो गया था। शायद वह प्रतिदिन इसी समय उसे पढ़ाती होगी। तभी तो बच्चा यंत्रवत उसका अनुकरण कर रहा था।

लड़का···लड़की···आदमी···औरत···खरगोश···गुलाब···चिड़िया···साँप। *अचानक बच्चा रुक गया।*

'मम्मी, ये साँप क्या होता है?' बच्चे ने पूछा। मम्मी ने बताया, साँप क्या होता है? शब्द कितने निरर्थक है? यद्यपि उसने एक कुशल अध्यापिका की तरह खुलासा करते हुए बता दिया था कि साँप क्या होता है। बीच-बीच में उसने अपने हाथ को फन की शक्ल देकर, फिर लहरा कर साँप के रूपाकार को स्पष्ट करने की पूरी कोशिश की। मगर बाल-मनोजगत में साँप का कोई पूर्व बिम्ब नहीं था इसलिए वह उसे ग्रहण नहीं कर सका। उसने आगे पढ़ने में रुचि लेना बन्द कर दिया।

यह उसके लिए एक चुनौती थी। वैसे बच्चा उस समय साँप के बारे में न भी जानता तो कोई अनर्थ होने वाला नहीं था। मगर न जाने क्यों मम्मी को लगा कि बच्चे को साँप के बारे में जितना जल्दी हो सके, जान लेना चाहिए ताकि वह साँप से चौकन्ना रहना सीख जाये।

हारकर मम्मी ने कहानी सुनाना शुरू किया। कहानी साँप और चिड़िया की थी।

'एक जगल में पुराने बरगद के पेड पर एक चिड़िया रहती थी। चिड़िया बहुत सुन्दर थी। जब कोई राहगीर थका माँदा पेड़ के नीचे सुस्ताने आता तो चिड़िया अपने घोंसले से बाहर आकर डाल पर बैठ जाती और गीत सुनाने लगती। हर राहगीर को अच्छा लगता था। कभी-कभी चिडिया अपने घोंसले की ओर देख लिया करती थी। घोंसले में चिड़िया के तीन बच्चे थे। चिड़िया जैसे ही सुन्दर और प्यारे। जब वे अपनी माँ को डाल पर बैठे गीत गाते देखते तो वे भी वहाँ आने की कोशिश करने लगते। मगर उनके पंखों में अभी इतनी ताकत नहीं थी। फिर चिड़िया भी नहीं चाहती थी कि वे डाल पर आएं। दरअसल चिड़िया उन्हें उस साँप से बचाना चाहती थी जो पेड़ की खोह में रहता था।

लेकिन चिड़िया का बच्चा उडे नहीं, यह कैसे हो सकता था। एक दिन चिडिया बच्चों के लिए दाने की तलाश में निकली। उसे लौटने में देर हो गई। इस बीच चिड़िया के दो बच्चों ने उडने की कोशिश की मगर नीचे गिर पड़े। साँप उन्हें खा गया। जब चिड़िया किसी तरह दाने का प्रबन्ध कर घोंसले में लौटी तो वहाँ केवल एक बच्चा था। चिड़िया को कुछ भी बताना न पड़ा। बिन बताये ही वह सब समझ गई। वह साँप से काफी नाराज हो गई। साँप ताकतवर था और चिड़िया कमजोर। एक कमजोर की एक ताकतवर के खिलाफ़ नाराजगी का कोई मतलब नहीं होता। साँप को चिड़िया की नाराजगी की कोई परवाह नहीं थी। वह और किसी चिड़िया की तलाश करने लगा।'

बच्चा सो गया था शायद···।

मगर कुछ कहानियाँ उस समय भी जागती रहती हैं जब श्रोता सो जाते हैं और कहने वाले अपना मुंह बन्द कर लेते हैं। असली कहानियाँ शायद ऐसी जगहों में ही जागती हैं।

'जया सिन्हा जब इस दुमंजिली इमारत में एक कमरा किराये पर लेकर रहने लगी थी तब उसे कितने कम लोग जानते थे। यहाँ तक कि उसके अगल-बगल के पडोसी भी उसके अस्तित्व से अनजान थे। जया अपनी उम्र के उस मुकाम पर थी जहाँ प्रायः सौन्दर्य वाचाल हो जाया करता है मगर वह बहुत कम बोलती थी। उसके कम बोलने और अपने काम से काम रखने की आदत ने कुछ लोगों के मन में उसे एक घमण्डी औरत के रूप में बिठा दिया था।

'घमण्डी का घमण्ड चूर होना ही चाहिए ? क्यों उस्ताद, क्या ख़याल है ?'

बदनसिंह को लोग इसी तरह के फिकरे उछालकर उकसाया करते थे। बदन सिंह इस इमारत का पुराना किरायेदार था मगर उसकी प्रतिष्ठा पुराने होने के कारण नही थी। दरअसल बदनसिंह के साथ प्रतिष्ठा शब्द का प्रयोग ठीक नही है। उसका दबदबा था। आस-पड़ोस के लोग उसे नाराज नही कर सकते थे। वह ताकतवर तो था ही और शायद मिजाज से सांप भी था।

एक दिन जब 'जया' अपने काम से लौटकर आयी तो उसके कमरे मे कुहराम सा मच गया। आसपास के काफी लोग जमा हो गए। किसी ने कहा—'दोपहर में बच्चो को कुल्फी खाते देखा था।' दूसरे ने कहा—'दो बजे के करीब जब मैं खाना खाकर वापस दुकान पर जा रहा था तो मैंने उन्हे बस स्टेशन की ओर जाते देखा था। साथ में कोई अधेड़ व्यक्ति भी था। मैंने सोचा रिश्तेदार होगा।' किसी ने सलाह दी—'बच्चों को इस तरह अकेले नही छोड़ना चाहिए। आजकल हवा ठीक नही है।' किसी ने थाने चलकर रिपोर्ट लिखवाने की याद दिलाई। जितने मुँह उतनी बातें। धीरे धीरे भीड़ छँटने लगी। कमरे में 'जया' और सबसे छोटा बच्चा अनिल रह गए।

चिड़िया के बच्चों को सांप खा गया था शायद। वह चिड़िया को आतंकित करना चाहता था। काश ! सांपो की बिरादरी यह समझ पाती कि आतंक और आकर्षण एक बिल में रह ही नही सकते।

दिन गुजरे। लोग कहने लगे, 'जया' यह मकान छोड देगी। मगर वैसा कुछ न हुआ। वह उसी इमारत मे बदस्तूर डटी रही।

कभी-कभी चिड़िया सोचती थी कि वह चील बन जाए और सांप को उसकी करतूत का मजा चखा दे। और एक दिन उसने ऐसा ही किया। वह सांप को लहूलुहान करके बस्ती के बाहर बहने वाली नदी में फेंक आई। उसने अपना प्रतिशोध ले लिया था। मगर उसे इसकी बहुत बड़ी कीमत चुकानी पड़ी थी।

अब जया के पास उसी इमारत में एक फ्लैट था। अब वह काम पर जाती तो कार में बैठकर। आती भी तो कार मे। अनिल की देखरेख के लिए उसने एक नौकरानी रख ली थी। जब दो-चार रोज के लिए कही बाहर जाना होता तो अनिल को साथ ले जाती। फ्लैट पर केवल नौकरानी रहती।

अनिल बडा होने लगा। मगर न जाने क्यों वह अपनी माँ से नफरत करने लगा था। उसका अधिकतर समय घर से बाहर गुजरने लगा। जया को लगा कि वह अनिल को खो रही है।

चिड़िया का एक मात्र बच्चा जब अपनी माँ को पहचानने से इनकार कर दे तो यह चिड़िया की हार ही तो कही जाएगी। चिड़िया को अपनी गलती का एहसास होता है। वह चील क्यों बनी ? भला चील को चिडिया का बच्चा कब

अपनी माँ समझेगा ?

अचानक एक जोरदार चीख से सारा कम्पार्टमेन्ट गूँज उठा। चीख ऊपर वाली बर्थ से आई थी और लोग हड़बड़ाकर उठ बैठे थे। बत्ती जलाई गई। कुछ देर पहले का उसका शालीन और सुन्दर चेहरा काफी विकृत दिखाई दे रहा था। वह बदहवास-सी अपने बच्चे के कपड़े अपनी मुट्ठी में पकड़े हुए थी जैसे उसे बर्थ से गिरने से बचा रही हो। कई प्रश्नसूचक दृष्टियाँ उसकी आक्रामक आँखों से जा टकराईं। धीरे-धीरे वह प्रकृतिस्थ होने लगी।—'सॉरी, आप सब लोगों को डिस्टर्ब किया। दरअसल इसे नींद में चलने की आदत है। इसे ना पकड़ती तो गिर पड़ता।'

धीरे-धीरे सब सामान्य हो गया। डिब्बे की बत्तियाँ बुझ गईं। गाड़ी ने लम्बी सीटी दी। शायद कोई स्टेशन आने वाला था।

वापसी का सुख

□

ब्रजेश 'चंचल'

मालू सोच रहा था'''बीड़ी सुलगाकर। धुएं के छल्ले ऊपर उड़ते जा रहे थे। वह लॉन में बैठा गाँव को याद किए जा रहा था। कहाँ आ पहुँचा इस चकाचौंध भरे शहर में? मगर, क्या करता? वहाँ भी तो कोई जुगाड़ नहीं बैठ रहा था दो जून की रोटी का। रामकली की अम्मा क्या मरी, उसको तो दुनिया ही उजड़ गयी।

मालू एक हरिजन, एक छोटे से जनपद का सफाई कर्मचारी। जब तक औरत जिन्दा रही नहर कॉलोनी में डेरे साफ कर दोनों वक्त का खाना जुटाती रही। सवेरे का खाना क्वार्टरों की रोटी से चल जाता, और शाम का जुगाड़ मालू की कमाई से। लेकिन जब वह नहीं रही, तब मालू की आँख खुली, और उसका ध्यान उसकी एक मात्र निशानी बेटी रामकली पर केन्द्रित हो गया। रूप-सरूप तो मालिक की देन है। हरिजन परिवार में जन्म लेकर भी रामकली एकमेव सौन्दर्य की प्रतिमूर्ति थी।

उलझे-उलझे बाल, उन्नत ललाट, उभरी हुई नासिका, केले के तने सी कमर, सुराहीनुमा गर्दन को जिधर भी घुमाती, उधर उजाला-सा हो जाता।

अपढ़ होकर भी अपनी लोक शैली की सुगढ़ता-कुशलता उसमें थी। चम्बल रेस्ट हाउस पर ड्यूटी लगी उस रात! बाप-बेटी दोनों एक ही जगह पर। बाप बाहर की सफाई पर तो बेटी भीतरी बाथरूम्स और शौचालयों पर।

आबकारी-मंत्री आने वाले थे। रेस्ट हाउस पूरी तरह सजधज के साथ उनके स्वागत में तैयार था। 'ऐ छोरी! लैटरिन वगैरह अच्छी तरह से धो-पखारकर ठीक रखना, और बाथरूम भी। फिनायल का डब्बा वहीं कोने में रखा है।' चौकीदार का हुक्म। रामकली मुँह बिदकाकर बाहर आते हुए फुसफुसायी— 'हरामी कहीं का हम कूँ सिखाने चला है। पीढ़ियाँ गुजर गयीं सफाई करते-करते।'

दोपहर हो आयी, तो गहमागहमी बढ़ने लगी। खाकी वर्दी वाले मंडराने लगे। कारों का आना शुरू हुआ एक दो'''। दाँतो तले अँगुली दबा गया मालू। बाप रे बाप! मंत्री क्या आ रहा है जैसे कोई दूल्हा आ रहा है। भला हो, समधी

का जिसने शहर बुलाकर ऐसी जगह नौकरी दिला दी, जहाँ मंत्रीजी के दर्शन तो हो जायेंगे। गाँव की जिन्दगी भी क्या कोई जिन्दगी है ? गधे की तरह दिन-रात मैला ढोना और मर जाना बस ! जिन्दगी तो इन लोगों की है, कि एक आदमी के खातिर कितने आदमी टहल-चाकरी में खड़े हैं ।'

'बापू ! ए बापू !!'

रामकली की पुकार से मालू का ध्यान टूटा और बेटी के इशारे पर बाग के दूसरे छोर वाली बेंचों की तरफ़ बढ़ने लगे दोनों।

बाप-बेटी एक बेंच पर बैठ गये। रामकली ने पोटली खोली और रात की बची चार बाटियाँ और मोटे 'सेवईं' रख दिये सामने।

'ले थोडा-थोड़ा कलेऊ तो कर लें, आते रहेंगे मन्त्री-वन्त्री। अपुन को क्या लेना-देना।' रामकली मुस्करा दी। दूर गुलमोहर के तने की ओट में खड़े दोनों हवलदारों ने उसे देखा और उनके हाथ मूँछों पर चले गये।

'लगता है कोई गाँव की गुड़िया है !' एक ने दूसरे के कंधे को झकझोरते हुए कहा।

'माल तो अछूता है ! और है भी अच्छा।'

दूसरे ने आँख मारी।

उधर थर्मल प्रोजेक्ट की आवाज और तीखी हो गयी। गगनचुम्बी चिमनी का धुआँ दिशा बदलकर रेस्ट हाउस पर छा गया। आसमान स्याह हो गया। और उसी काले कुदरती चँदोवे के नीचे कारों का एक और काफ़िला घरर-घरर कर रेस्ट हाउस रोड पर आकर रुक-सा गया।

न जाने कितने श्वेत-वसन धारियों से घिरे हुए, स्थानीय नेताओं, और खाकी वर्दीधारियों की सलामी लेते हुए मंत्री महोदय रेस्ट हाउस में प्रविष्ट हुए।

रामकली का मुँह का कौर, मुँह में रह गया। वो आ गए ! आ गए !! मैं हाल आई बापू ! तनिक देखूँ तो सही ! कैसा होता है मंत्री ! बिटिया ने अपनी अलसिया रंग की ओढनी से माथा ढका, और फुर्ती से नल पर ओक बनाकर पानी पिया, और बढ़ चली उधर ही जिधर से मंत्रीजी कक्ष में जाने के लिए भीड़ से घिरे चल रहे थे।

रामकली मंत्रीजी को समीप से देखने के उछाह से भरी थी और उन सिपाहियों की निगाह उसे पास से देखने की चाहना से। वह दो कदम और आगे बढ़ी कि उनमें से एक ने उसकी कलाई पकड़कर पीछे की ओर धकेलते हुए कड़क आवाज में कहा, 'ए छोकरी ! पागल है क्या ? चल पीछे हट ! उधर कहाँ बढ़ी जा रही है ? देखती नहीं मंत्रीजी आ चुके हैं।'

पूरे झटके के साथ कलाई छुड़ाते हुए रामकली शेरनी सी बिफर उठी। 'तो इसमें हाथ पकड़ने की कौन सी तुक थी। जानता नहीं मुझे, मैं कोई ऐरी-गैरी

नही। छी ! छी !! छी !!! कितने हेठे होते हैं शहर के लोग। अगर ऐसा मेरे गाँव में होता, तो हरिजन टोले के भाई-बीर अब तक लाठियों से तेरा भुरता बना देते।'

'इतनी तेज-तर्रार और बोलार भी।'

हवलदार खून की घूंट पीकर रह गया। मगर, तब तक मंत्रीजी के पी० ए० की नजर रामकली के चेहरे पर पड़ी और अटकी रह गयी।

पी० ए० ने एक सकेत से उसी हवलदार को अपनी ओर आने का सकेत किया, और उसके कान में कुछ फुसफुसाया।

सायंकाल आबकारी मत्री ने भारी जन-समूह को संबोधित किया। नशाबन्दी पर जितना वे बोल सकते थे, बोले। रामकली और उसके बापू ने भी भाषण सुना। रात्रि को ठीक नौ बजे मालू को नगर परिषद प्रशासक का आदेश मिला कि रात्रि को उन दोनों की ड्यूटी यही पर रहेगी, ताकि मंत्री महोदय को बाथ-रूम की सफाई सम्बन्धी कोई असुविधा न हो।

भाषणोपरान्त न जाने कितनी बीयर और ह्विस्की की बोतलें खुली। मगर, रात के ग्यारह बजे तक पार्क के कोने वाली दोनो बैंचों पर न बाप की आँख लगी, और न बेटी की।

उसी क्षण वे ही दोनों हवलदार मूंछे ऐंठते हुए बैंचों की तरफ बढ़े आ रहे थे। लैंपपोस्ट के मद्धिम उजास मे उनकी आकृतियाँ डरावनी लग रही थी। उनमे से एक को एकदम निकट आता देख रामकली हड़बड़ाकर उठ बैठी।

' हवलदार और निकट आया और धीमे से बोला ए लडकी ! सुना नही, तुझे रूम नं० एक की लेट्रीन अभी साफ करनी है। चल उठ, और चल मेरे साथ, पी० ए० साहब का हुक्म है।'

रामकली ने मालू को उनीदा जानकर झकझोरा, 'चल उठ, बापू ! कर ली शहर की नौकरी, और देख ली शहर वालों की नीयत ! दिन भर से ये भेड़िए गुर्राए जा रहे थे और अब मंत्रीजी के गीदड़ों की भभकियाँ आने लगी हैं।'

बेटी की बात सुनते ही मालू उठ बैठा, सिरहाने धरी पोटली को बगल में दबाया, और आँखें तरेरकर बोला, 'हाँ, हाँ, तू ठीक बोलती है बेटी ! छिमा करो हवलदार साब ! हम जा रहे हैं नौकरी छोड़कर। हम गरीब जरूर हैं मगर बेगैरत नही।'

मालू ने रामकली की कलाई पकड़ी और द्रुत गति से रेस्ट हाउस का फ़ाटक खोलकर बाहर आ गया। अपनी कोठरी में आकर दोनों ने राहत की साँस ली। वापस गाँव लौटने की खुशी उनकी आँखो मे चमक रही थी। •

पूरी बाँह का स्वेटर

□

ब्यूला एस० कुमार

इस वर्ष दीपावली कुछ ज्यादा ही खुशियाँ लाई थी। हंसी-खुशी के माहौल में एक-बारगी तो दुनिया के दुख सब व्यर्थ ही जान पड़ रहे थे। सर्वत्र खुशी ही खुशी नजर आती थी। पर यह सुख टिकता कहाँ है। समय का चक्र घूमता हुआ कब सुख-दुख दे जाये कोई नहीं जानता। खुशी चन्द दिनों में ही टलकर कहाँ खिसक गयी पता ही नहीं चला। हकीकत का एहसास हुआ तब, जब नवम्बर महीना आधा बीत चुका था। घर का बजट गिरता हुआ नजर आ रहा था। घर में रोज-मर्रा की चीजों की भी कमी महसूस हो रही थी।

इन सबके साथ एक जबरदस्त धमाका था सर्दी का। बच्चों के सोने के पश्चात हम पति-पत्नी नित्य ही यह जोड़-तोड़ लगा रहे थे कि हम सब में से किसको गरम कपड़ों की अधिक आवश्यकता है? और किस-किस का काम पुराने गरम कपड़ों से ही चल जायेगा। श्रीमतीजी का झुकाव बच्चों की ओर ज्यादा था। मैं भी तो यही चाहता था कि बच्चों के पास स्कूल ड्रेस के अलावा लाल गुलाबी ऊन का एक-एक सुन्दर स्वेटर और हो। पर पिछले वर्ष से एक ललक मुझे भी रही थी—इच्छा थी—शर्माजी व वर्माजी की तरह मेरे पास भी एक पूरी बाँह का सुन्दर-सा स्वेटर हो।

और आज बातों के दौरान अपनी इस कामना को श्रीमतीजी के सामने रख ही दिया—'प्रिय क्या कुछ जुगाड़ करके बच्चो के साथ मेरे लिए भी एक स्वेटर बन सकता है।' पत्नी ने मेरी तरफ गौर से देखा, फिर प्यार भरे शब्दों में कहा, 'क्यों नहीं अभी आप इतने बूढ़े नहीं हुए कि हमेशा पुराना कोट ही ठाँसे रहो। मैं अवश्य ही बच्चों के ऊन के साथ आपके स्वेटर के लिए भी ऊन ले आऊँगी।'

पत्नी की इस स्वीकृति से दिल बाग-बाग हो गया। वाह! कैसा होगा वह दिन, जब मैं नयी डिजाइन का नया, पूरी बाँह का स्वेटर पहने स्कूल जाऊँगा तब देखना मेरे आगे शर्माजी भी फीके लगेंगे। सुधा बहनजी अवश्य ही पूछेंगी? आपके स्वेटर की डिजाइन बड़ी सुन्दर है क्या मैं इसे उतार सकती हूँ? और मैं···अपनी उम्र से कम से कम पाँच वर्ष तो कम लगूँगा ही।

यही सारे सपने संजोये मैं श्रीमतीजी की सेवा मे लग गया। वह जब भी घर मे काम करती होती मैं उनके काम में हाथ बँटाता। सोचता अब जल्द ही मेम साहब समय निकालकर बाजार जाएँगी। और वह दिन भी आ ही गया। मैं जब स्कूल से लौटा तो देखा टेबल पर ऊन के कुछ पैकेट रखे थे।

जैसे-तैसे दिन बीतते गये। दोनों बच्चो के स्वेटर लगभग पूरे होने आये। श्रीमतीजी स्वयं भी बुनाई मे व्यस्त थी और पड़ोसिनों से सहायता भी ले रही थी। मेरी भी ड्यूटी अभी तक जारी थी। घर की सफाई से लेकर कभी-कभी रोटी तक बेलने की नौबत भी आ जाती थी। मेरी नरम-दिली का श्रीमतीजी ने बहुत फायदा उठाया था। घर के कामों के साथ बच्चों को नहलाना, लंच बॉक्स तैयार कर उन्हे स्कूल भेजना। लगभग घर के सारे कार्य मेरे ही जिम्मे आ गये थे, पर हमारा भी हौसला बुलंद था। आखिर हमारे लिए भी पूरी बाँह का नया स्वेटर जो बनने वाला था।

दिसम्बर का महीना शुरू हो गया था। सर्दी भी ज़ोर पकड रही थी। मेरा स्वेटर भी बनना शुरू हो गया पर हाय किस्मत—सर्दी के दिन—श्रीमतीजी का कहना था कि बहुत छोटा होता है और तुम्हारे स्वेटर की लम्बाई अधिक है। दिन भर का बुना हुआ स्वेटर जब श्रीमतीजी रात को हमारे सीने से लगाकर नापती तब भी कमी रह ही जाती। हम दोनों ही घर-बाहर का काम निपटा रहे थे। मैं ज्यादा से ज्यादा समय मेम साहब के लिए निकाल रहा था। जैसे-तैसे आगे व पीछे का हिस्सा पूरा हुआ। अब तो सिर्फ़ आस्तीनें ही बाकी थी। इधर महीना पूरा होने को आया था उधर श्रीमतीजी ने फर्माया—'जी ऊन कुछ कम पड़ गयी है। इतनी-सी ऊन मे पूरी बाँह नही बन पायेगी।' मैं दिल मसोसकर रह गया। क्या करूँ क्या न करूँ? पूरी बाँह के स्वेटर की चाह छोड दूँ और अभी बिन बाँह का ही बनवा लूँ···पर दिल के अरमान—चाहना—सभी पर पानी फेर दूँ। नही ऐसा कुछ भी नही होगा। दिल को दिमाग ने समझा दिया—पाँच-छः दिन की तो बात है, महीना पूरा होने को है और एक जनवरी को तो तनख्वाह मिल ही जायेगी तब थोड़ी ऊन और आ जायेगी।

ये दिन कैसे बीते? दिल ही जानता है। मेम साहब खुश थी कि रात-दिन की मेहनत से थोड़ा आराम मिला पर उनका आराम हमें बड़ा खल रहा था। पर चाह-कर भी कुछ नही कह सकते थे। आखिर तनख्वाह भी मिली और श्रीमतीजी उसी रंग की ऊन का टुकड़ा लिए बाज़ार चल दी। बहुत दुकाने देखने के बाद भी सही रंग नही मिल पाया। हार-थककर एक दुकान से कमोबेश वैसा ही रंग मिल गया। फिर क्या था! हमने भी मसका लगाते-लगाते शाम को ही आस्तीन बन-वानी शुरू कर दी। सोच रहा था, बस अब दो या तीन दिन मे ही स्वेटर हमारे बदन पर होगा और हम, बस हम ही होंगे।

इधर हम दिन गिन रहे थे उधर श्रीमतीजी का हाथ कुछ धीरे ही चल रहा था। आराम किसे पसंद नही होता। जब हम अपने कामों की दुहाई देते तो बड़े प्यार से कहती—'अजी कभी-कभी तो ऐसा अवसर आता है। मेरे काम में सहायता कर दोगे तो आपकी सेहत में कोई फर्क तो नहीं आ जायेगा।' मरता क्या नही करता—मैं तो सिर्फ यही चाह रहा था कि श्रीमतीजी ने जो बीड़ा उठाया है उसे शीघ्र ही पूरा कर दे बदले में चाहे जो काम करवा ले।

सुबह से शाम उनके हाथ मे हमारी पूरी बाँह ही नजर आती। कमबख्त बाँह थी कि पूरी ही नही होती थी। तारीखें आगे बढ़ती जाती थी और हम दिन गिनते जाते थे। आखिर बीस जनवरी को श्रीमतीजी ने फरमाया आपका स्वेटर पूरा हो गया है। मैं बहुत खुश था। बाहर आँगन में डोरी पर स्वेटर को सूखते पाया तो दिल कह उठा—मेम साहब को हमारा कितना ख्याल है, आखिर मेम साहब भी तो हमारी हैं। पर हाय रे किस्मत! मौसम ठंडा और फिर बादल—दो दिन लग गये स्वेटर सूखने मे। और आज जब बाईस जनवरी को हम नया स्वेटर पहनना चाह रहे थे तो श्रीमतीजी ने सुझाया—अब तो छब्बीस जनवरी को ही पहनना, नया स्वेटर किसी खास दिन पहनोगे तो और अच्छा लगेगा।

बाकी तीन दिन किस तरह बीते यह दिल ही जानता है। आखिर वह शुभ घड़ी भी आ गयी और हम पूरी बाँह के नये स्वेटर मे, बने-ठने, अपने स्टाफ के साथ बडी शान से स्कूल के समारोह मे बैठे थे। सभी ने हमारे स्वेटर को बहुत सराहा था और सराहना सुनकर हम फूले नही समाते थे।

स्कूल के कार्यो से निपटकर शीघ्र ही घर चले आये क्योंकि सारी खुशियाँ हम श्रीमतीजी के साथ बाँटना चाहते थे—लेकिन चौक में पैर रखते ही छोटे साले को देखकर ठिठक गये। साले साहब की हम पर ज्योंही नजर पड़ी चिल्ला पड़े—वाह जीजाजी आप तो पहचानने में ही नहीं आ रहे है बहुत सुन्दर स्वेटर पहना है जरूर जीजी ने बनाया होगा। बड़ा फबता हुआ रंग है और डिजाइन भी सुन्दर। क्या पसन्द है आपकी! मजा आ गया। बस हम चढ गये चने की झाड पर और बोल पड़े—अरे सिकंदर साहब आपको स्वेटर इतना पसन्द आ रहा है तो आप ही पहन लो ना! बस फिर क्या था, साले साहब ऐसे उछले जैसे अंधे को दो आँखे मिल गयी हो। जीजाजी मैं अभी पहनकर दिखाऊँ? हम श्रीमतीजी की तरफ देखते रहे—वह भी तिरछी निगाहों से हमें देखते हुए बोली—श्यामू को पसन्द आ गया है तो इसे ही दे दो ना! मैं आपको और बना दूंगी।'

दूसरे दिन सवेरे साले साहब जाने की तैयारी कर रहे थे। और हम दिल में अनेक अरमान दबाये होठों पर मुस्कान लिए हुए उन्हे विदा कर रहे थे। •

संकल्प

□

पुष्पलता कश्यप

'गरीब पे हरेक सीना तान लेता है बाबू साहेब ! यह धंधा मैं पिछले पन्द्रह सालो से कर रहा हूँ। पहले 'छवि' सिनेमा के पास वाले गैराज में दुकान थी। मालिक ने गैराज को तुड़वाकर वहाँ नयी दुकानें बना किराये पर उठा देने की योजना बनाई। अपनी पहुँच और ताकत के बल पर उसने रात मे, जब मैं अपनी दुकान बढाकर घर जा चुका था, मेरा सामान सडक पर फिकवा दिया। उसके खिलाफ केस करने के लिए मेरे पास जुगाड और पैसा दोनों न थे। कोर्ट-कचहरी नही कर सका। हमे तो रोज कुआँ खोदकर पानी पीना पड़ता है। पुलिस और कोर्ट-कचहरी के चक्कर मे पड़ते तो धंधे से जाते बाबू साहेब। फिर गरीब की कौन-सी सुनवाई है ! सो सब्र करके बैठ गये।' वह तत्परता से अपने कामो मे लगा रहकर अपना दुख-दर्द बताए चल रहा था। मैं उसकी दुखती रग छेड़ बैठा था।

'उसके बाद अपनी दुकान उठाकर मैं यहाँ—इस फुटपाथ पर ले आया।'

'यहाँ कोई तंग नही करता !'

'मुन्सिपल्टी किराया लेती है। वहाँ से रसीद कटती है। फिर भी उनके आदमी आये दिन सिर पर सवार रहते है। पुलिस वाले अलग तंग करते हैं। सबको हफ्ता देना पडता है। सामान अलग उठा ले जाते हैं। कहते हैं, फलाँ साहब को चाहिए। कभी, फलाँ ने मँगवाए हैं। कभी, फलाँ ने कहा है। नाम अफसर का लेते हैं, लेकिन इस्तेमाल मे खुद लाते हैं।'

'काम के लिए तुम्हे सरकारी आर्डर भी तो मिल जाते होगे।'

'मिलते हैं। लेकिन बाबूसाहेब ईमान की बात यह है कि हम सरकारी काम करना पसंद ही नही करते।'

'क्यों, ऐसा क्यों ?'

'वो ऐसे कि सरकारी आर्डर पर काम कर दिया, मगर पैमेंट कमीशन दिये बगैर नही होता। वहाँ चक्कर निकालते फिरो। कभी बाबू नहीं मिलता, तो कभी एकाउटेंट नही होता। कहेगे, बिल नही बना। कभी, साहब के दस्तखत नही हुए। तो कभी, बिल पास होने खजाने गया है। कभी ये, तो कभी वो। हम अपनी

रोजी पर बैठूँ या वहाँ चक्कर काटें !' उसने झुंझलाहट भरे दुखी स्वर में कहा।

'तुम्हारी ये सब बातें अखबार में छपा दें। तुम्हें कोई एतराज तो नहीं होगा ?'

वह असमंजस में आकर मेरी तरफ देखने लगा। उसके कार्यरत हाथ रुक गये थे। चेहरे पर भावनाओं की परछाइयों के परिदृश्य बन रहे थे।

उन दिनों भयकर गरमी पड रही थी। आकाश से शोले बरसते थे। सुबह सात बजे से लू का चलना शुरू होता, तो कहीं रात एक बजे के बाद ही राहत मिलती। दिन में पारा पैंतालीस डिग्री सेलसियस तक उछाल मारता था। वातावरण में नमी नाम को भी नहीं बची थी। गीले कपड़े डालते ही सूख जाते।

पत्नी की तबीयत गिरी-गिरी रहने लगी थी। सोचा, लू से बचाव के लिए कमरों में खस के टाटे ही लगवा लूँ, कूलर तो खरीद नहीं सकता।

ताज सिनेमाघर के पीछे इरविन अस्पताल रोड की फुटपाथ पर बैठकर वह टाटे बनाता था। नाम, मोहर सिंह है। मैं वहाँ टाटे बनवाने गया था। वह अपना काम कर रहा था। मैं उसके पास ही पड़े एक मूढ़े पर बैठ गया था। मैंने यों ही बात छेड दी थी। उसके पूछने पर बतला दिया था, स्थानीय अखबार का एक प्रतिनिधि सवाददाता हूँ।

'जाने दो, तुम्हें परेशान होना पड़ जाएगा। मुनिसिपल्टी, पुलिस, यू० आई० टी० वाले, सब तुम्हारे खिलाफ हो जाएँगे और तुम्हें बेजा तग करेंगे।' मैंने उसकी उलझन देखकर कह दिया।

'हाँ, सो तो है बाबूसाहेब !' वह सोच में पड़ा हुआ था।

'सन् सित्तेत्तर की एमर्जेंसी में यू० आई० टी० वाले मेरा सामान कचरागाड़ी में डालकर ले गये थे। फिर कहा गया कि सबको पक्की दुकानें बनाकर देंगे। मैंने भी एलोटमेंट के लिए अर्जी दी थी, लेकिन दुकान आज तक नहीं मिली। बाबूसाहेब आप कोशिश करके कोई छोटी-मोटी दुकान दिलवा दें तो गरीब पर बहुत मेहरबानी हो जाएगी।'

'लेकिन हमारे पास तो अखबार ही जरिया है, अपनी बात कहने-रखने का ! तुम हामी भर दो, तो तुम्हारा एक इन्टरव्यू अखबार में निकलवा देंगे। तुम्हारे जैसे पटरी पर बैठने वाले भाइयों का दुख-दर्द जनता और प्रशासन के सामने आ जाएगा।' मैंने उसे टोहने-टटोलने की गरज से कहा।

वह निःशब्द हो रहा। लेकिन उसकी अँगुलियाँ तेजी से काम में तल्लीन थीं। ललाट पर पड़ी सोच की सलवटें अन्दर के आन्दोलन का आभास दे रही थीं।

वहाँ से थोडी जगह छोडकर, पडा उसी तरह का सामान, काम करती एक कृशकाय बूढ़ी औरत और कुछ लड़कों को देखकर मैंने बेवजह ही पूछ लिया—'वो सब भी तुम्हारा है !' मैंने उधर सकेत किया। दरअसल मैं बात बदल देना

चाहता था।

'वो, मेरी माँ है। अपना धधा अलग लगाती है। मुझसे बात नही करती। दुकान न मिल पाने के लिए मुझे ही दोषी समझती है।' दुखती रग रिसने लगी थी।

'तुम खस के ही टाटे बनाते हो ! काँटो के नही बनाते ?'

'आर्डर होता है, तब दूसरी जगह से बनवाकर मंगवा लेते है। यहाँ काँटों का काम हो नहीं सकता, जगह की कमी है। यहाँ सब जगह काँटे बिखर-फैल जाते हैं।'

तनिक रुककर बोला—हम मूढ़े बनाने और मूंज का काम भी करते हैं बाबू-साहेब सीजन मे यह खस का काम है। पेट-भराई तो करनी पड़ती है।'

तभी सहसा उसके चेहरे पर एक सकल्प की आभा फैल गयी। बोला—'आप अपने अखबार मे सब कुछ छाप दीजिए बाबूसाहेब, जो होगा, देखा जाएगा निपट लूँगा। अब इस लूट-खसोट और इन मुफ्तखोरो का मुकाबला करना ही पडेगा। बिना मुँह खोले बात बनने की नही है !' कहते उसका चेहरा तमतमा आया।

फिर काम छोड़कर कमर सीधी करते, उसने एक भरपूर अँगड़ाई ली। मैंने देखा, उसकी मुट्ठियाँ बँध गयी थी। ●

राज्यादेश

□

छगनलाल व्यास

'बॉस ! कॉंग्रेच्युलेशन !' उसने सवेरे आते ही कहा। मेरी आँखें फटी की फटी रह गयी। 'कॉंग्रेच्युलेशन' शब्द ही कुछ ऐसा है कि हजारों कामों को छोड़कर मन बधाई की बात सुनने को आतुर हो उठता है और मुँह से स्वत: शब्द फूट पड़ता है—

—'किस बात के लिए ?'

—'आपका ट्रांसफर अपने ही गाँव हो गया।' सामने वाले का प्रत्युत्तर था।

—मैं अवाक् रह गया···यह क्या···! गाँव से तो दो मील दूर ही भला···। यही सोचकर मैंने कभी आवेदन भी नहीं किया लेकिन अब मान न मान मैं तेरा मेहमान वाली बात हो गयी···। खैर ! अब इनके आगे रोना रोने से क्या फायदा, बात इस कान सुन उस कान निकाल ली।'

स्टॉफ में यह बात उछलने-कूदने लगी। बातें होने लगी। कोई कहता—'ठीक है साहब ! आप तो घर पहुँच गये।'

'यहाँ पर भी आप सर-आंखों पर थे तो वहाँ तो आपको सिक्कों से तोलेंगे।' कोई बोला।

'आपका व्यवहार तो वास्तव में अविस्मरणीय रहेगा।' जितने मुँह उतनी ही बातें। जो कोई आता यही बात।

लेकिन अपना दुख किसे सुनायें कि हम घर में नगण्य है और मन ही मन इस ट्रांसफर के समाचार को दुखदायी समझ रहे हैं।

जुलाई का माह यानि ट्रांसफरों की बौछार···। रिमझिम-रिमझिम करती बारिश और रह-रहकर आते ट्रांसफर-आदेश। मानो दो-दो सावन आये हों और आजकल तो राज्यादेशों ने इतने पाँव पसार रखे है कि हर विभाग में हर कर्मचारी को इससे खतरा पैदा हो गया है। इन राज्यादेशों की भी अलग कहानी है—कभी चीटियों की भाँति अनगिनत निकलते है, जिनमें सरपंच और सड़कछाप नेता तक का हाथ होता है तो कभी एम० एल० ए०/एम० पी० की अभिशंसा लिखवानी होती है। 'कभी किसी को हटाकर न लगाया जाये' तो कभी, 'जैसे भी हो इनकी अनु-

की जाये।' राज्यादेश ही सर्वोपरि है।

मैं पिछले वर्ष ही तो यहाँ एम० एल० ए० की सिफारिश पर आया था। अभी पूरे बक्से भी नहीं खोल पाया और फिर ट्रांसफर की आवाजें सुनाई देने लगीं, यह भी भला नौकरी है! तभी तो कहते हैं—'नौकरी न कीजै यार घास खोद खाइये।' इस वर्ष नये एम० एल० ए० साहब आये और पुराने एम० एल० ए० के व्यक्तियों का बदलना शुरू। अब तो नौकरी करनी है तो सरपच, वार्डपंच से लेकर एम० एल० ए०/एम० पी० तक की हाथा-जोडी करो, उनके गुण गाओ'''। अफसरों की बात को चाहे नकारो लेकिन नेताओं से हाथ मिलाओ। अनेक विचार आने लगे।

ऑफिस में जाकर बैठा लेकिन जी उकताने लगा आखिर बात का पूरा हवाला लिया जाये इसी उद्देश्य से घंटी दबायी।

'फरमावो !' चपरासी ने अपना तकिया कलाम काम में लिया।

—त्रिवेदीजी को बुलाओ !

—हाँ, तो त्रिवेदीजी आपको इस ट्रांसफर का समाचार कैसे ज्ञात हुआ ?

—साहब ! कल जोधपुर में सुखानीजी मिले थे वह जयपुर से आ रहे थे। उन्होंने ही बताया कि आपके हेडमास्टर साहब का ट्रांसफर उनके गाँव में हो गया है।

—यहाँ किसे लगाया है ? मैंने शीघ्रता से पूछा।

—लक्ष्मणगढ़ वाले गोस्वामी जी को। वह तो आराम से अप-डाउन कर लेंगे और ट्यूशन का लाभ भी पूरा मिल जाएगा। मैंने बीच में ही कहा।

—हाँ, इसीलिए तो उन्होंने जयपुर के चार चक्कर काटे हैं और आपने तो खैर अच्छा ही रहा, घर बैठे गंगा आयी।

—हाँ, ठीक है'''मैंने नीरसता से प्रत्युत्तर दिया।

—और आपका क्या रहा ? बात को दूसरे मोड़ पर पहुँचाने के उद्देश्य से मैंने पूछा।

—मेरा भी जी० ओ०, अलवर का तो, हो गया है, शायद आजकल में आदेश पहुँच जाएँगे।

—तब तो आपको भी 'कॉंग्रेच्युलेशन' ! मैंने कहा।

—खैर ! मेरे तो ऐसी कोई बात नहीं, जगह ठीक मिल जाए तो बेहतर अन्यथा फिर मंत्रीजी से फोन करवाना होगा वैसे भी मैंने तो इस निमित्त दो हजार का धुआँ उडा दिया।

बेमन से डाक देखी और कुछ निर्देशित भी किया इसी बीच गरम तेल में पानी की भाँति दिमाग में एक शब्द गूँजा—'अफवाह' हो सकती है।

लेकिन असंभव'''। त्रिवेदीजी ने आज तक गप्प नहीं हाँकी, जितना काम

उतनी बात ''। और जहाँ तक सुखानीजी का बात लाने की बात है वे तो खुद भी परमानेण्ट आदमी हैं, उनकी बात सदैव वजनदार होती है। जयपुर गये थे तो उन्होंने जरूर किसी से बात सुनी होगी। पिछले वर्ष भी तो लक्ष्मणगढ़ वाले गोस्वामीजी ने एडी से चोटी तक का प्रयास किया था लेकिन बात बैठी नहीं वे शहर से अप-डाउन चाहते हैं ताकि ट्यूशन का पूरा लाभ मिल सके। निन्यानवे के चक्कर में मनुष्य मनुष्यता छोड़ देता है।

डाक टेबल के एक कोने पर पड़ी थी और मैं पेपरवेट को अँगुलियों से घुमा रहा था और विचारों के अथाह सागर में गोते खा रहा था। नीति कहती है कि दो वर्ष पहले स्थानान्तरण नहीं और राज्यादेश नीति की खुले आम उलंघन कर अनीति कर रहे हैं लेकिन सबल को उसके दोष कौन बताये। जिसकी लाठी उसकी भैंस।

छुट्टी की घंटी बजी। मैंने घर का रास्ता संभाला। बीच ही में बैंक मैनेजर मिल गये, वही बात'''

'कांग्रेच्युलेशन साहब! बहुत अच्छा हुआ, आप तो घर पहुँच गये, दो चूल्हों से एक चूल्हा हो गया।'

'हाँ, ठीक ही हुआ'''थैंक्स'''।' कहकर मैं जल्दी से आगे बढ़ गया।

घर पहुँचा। मुँह उतरा हुआ देखकर श्रीमतीजी का माथा ठनका। कहिये! आज किससे झगड़ा कर आये?

—किसी से नहीं'''।

—तो क्या बात है? मूड-ऑफ-सा लग रहा है'''?

—ट्रांसफर का सुना है।

—कहाँ?

—अपने ही गाँव।

—उसको तो मानो किसी ने छत से धकेल दिया हो वह हतप्रभ-सी रह गयी। यह क्या'''? आप तो कह रहे थे कि दो वर्ष पहले स्थानान्तरण होते नहीं हैं और आवेदन किया नहीं है।

—लेकिन ये राज्यादेश हुए हैं'''। ये राज्यादेश अपवाद है ये कभी भी किसी पर भी हो सकते हैं। मैंने समझाने की चेष्टा की।

—यहाँ किसे लगाया है? उसने प्रश्न किया।

—लक्ष्मणगढ़ वाले गोस्वामीजी को'''।

—वो ही जो पहले मिच्युअल का कह रहे थे?

—हाँ'''उन्होंने जब यहाँ दाल गली नहीं तो जी० ओ० करवाया। यहाँ से अप-डाउन कर ट्यूशन का लाभ उठाने हेतु उन्होंने किसी का भला बुरा नहीं देखा बस अपना उल्लू सीधा किया। खैर'''।

—ख़ैर, अब आप कैन्सल करवा लो।

—अब क्या कैन्सल होगा। ऐसी अपनी कोई राजनीति में पहचान नहीं। और जिसकी कोई पहचान नहीं उसका काम कौन करे। शरीफों पर सब सवार।

—तो आप गुमसुम क्यों रहते हो…जान पहचान बढ़ाते रहो…नहीं तो यह अफ़सरशाही महँगी पड़ेगी। अब अपने से तो गाँव में नहीं रहा जायेगा। बच्चे बिगड़कर धूल होंगे, ऊपर से माताजी-पिताजी का बुढापा और बुढ़ापा यानि बचपना, बात-बात पर झिड़कना मुझसे सहन नहीं होगा…दिनभर कोल्हू के बैल की तरह काम करते रहो…मैं तो नहीं जाऊँगी। गर्मी की छुट्टियाँ भी तो एक-एक दिन गिन कर निकालनी पड़ती हैं तो अब तो वहाँ हालत ख़राब होगी ही। श्रीमती जी ने रह-रहकर अपना रोना रोया।

—लेकिन राज्यादेश पर तो राज्यादेश ही संभव है। और वह मेरे बस में नहीं। मैंने अपना राग अलापा। लेकिन गाँव आदम के ज़माने के हैं—हाथ भर घूँघट निकालो और काम करते जाओ…न होस्पिटल की सुविधा न घूमने का स्थान …घर में सड़ते रहो। अरे भगवान ! यह कैसी आफ़त आ पड़ी। पत्नी बोली।

'अब क्या किया जाये ? वहाँ लोकल स्टाफ़ है, ज्यादा कहा सुनी भी ठीक नहीं, और अब राज्यादेश के आगे दूसरा कोई चारा नहीं।' मैंने सोचा।

खाना-पीना दुश्वार हो गया। दिल धोंकनी की भाँति धड़कने लगा। लोग तो कांग्रेच्युलेशन दे रहे हैं और यहाँ हाय-हाय मची है फिर घर की साथन उखाड़ी होने का भी भय। ख़ैर ! फिर भी इससे बिगड़ी जगह मिलती तो भी जाना पड़ता इससे तो यह ठीक ही है। पी०एल० और टी०ए० का लाभ तो प्राप्त होगा। संतोष का यही साधन कि पीछे देखो। फिर भी यदि स्थान परिवर्तन हो जाये तो बेहतर। इसी दृष्टि से सरपंच से सम्पर्क किया तो उन्होंने बीस तारीख़ दी। आज आठ तारीख़। बारह दिन बारह महीने जैसे लगने लगे।

हमेशा श्रीमतीजी कान खाती रही जल्दी से जयपुर जाकर कोशिश करो अन्यथा 'फिर का वर्षा जब कृषि सुखाये'। अपनी तो आख़री चेतावनी है कि मैं तो गाँव नहीं जाऊँगी।

यह कैसी आफ़त…मानो दो पाटों के बीच फँस गया होऊँ।

आख़िर जयपुर गये। सचिवालय के चक्कर काटे तो किसी भले बाबू ने बताया कि ट्रांसफर लिस्ट में आपका नाम तो नहीं है, किसी ने अफ़वाह ही चलायी है। क्षेत्रीय विधायक से भी मिले उन्होंने भी विश्वास दिलाया कि ऐसा हुआ नहीं है और अभी तो वैसे भी ट्रांसफर पर बेन है…तब कहीं जाकर कुछ सान्त्वना मिली कि अफ़वाह ही होगी।

जब भी डाक आती है दिल काँपने लगता है अफ़वाह न जाने कब हकीकत बनकर सामने आ जाये। ●

घर के आदमी

☐

जनक राज पारीक

उसने ख़ाकी जीन की पैंट पहन रखी थी, जिसमें नारंगी रंग की कमीज ठूँसकर डाली गई थी। पैरों में हवाई-चप्पलें और आँखों पर धूप का चश्मा। कंधे पर एक सर्वोदयी थैला लटक रहा था, जो अपने अंतिम दमों पर था। वह तूफान की तरह होटल में घुसा और काउंटर पर रखे हुए टेलीफोन का रिसीवर उठाकर गुस्से में डायल घुमाया, 'थ्री एट टू टू नाइन सैवन।' क्षण भर की बेचैन प्रतीक्षा के बाद बोला, 'हलो। मैं शर्मा, एडीटर 'धधकती ज्वाला' बोल रहा हूँ नमस्कार, एकदम ठीक हूँ, बिल्कुल फिट। वो एक छोटे से विज्ञापन का पेमेंट रुका पड़ा है, मेरे मालिक। हाँ, आज ही भिजवाओ, पॉजीटिवली। और हाँ, इस अंक के साथ 'धधकती ज्वाला' का वार्षिक शुल्क भी समाप्त हो रहा है। हाँ-हाँ साथ ही भिजवा देना, शुक्रिया।' उसने रिसीवर रखा और मैनेजर से मुखातिब हुआ, 'माइ सैल्फ शर्मा एडीटर—धधकती ज्वाला।'

'बड़ी खुशी हुई आपसे मिलकर।' मैनेजर साहब ने उदास भाव से हाथ आगे बढ़ाया। हाथ मिलाते हुए वह तेज आवाज में बोला, 'यह क्या घपला कर डाला, कपूर साहब? होटल को कोठा बनाने का इरादा है या स्मगलिंग का अड्डा?'

मैनेजर कपूर स्थिर दृष्टि से उसकी ओर देखते रहे—निःशब्द।

'आप शायद जानते होंगे कि सामाजिक बुराइयों के खिलाफ जिहाद छेड़ने का साहस केवल मैंने किया है। 'धधकती ज्वाला' के पिछले अंक देखे हों, तो आप इस बात से इन्कार भी नहीं कर सकेंगे। आज वाली न्यूज मैं इसी अंक में देना चाहता हूँ। थोड़ा डिटेल्स दे दें ताकि मैं नोट्स ले लूँ।'

'क्या बताएँ, शर्मा साहब', कपूर साहब बुझे स्वर में बोले, 'सौ तरीके के लोग आते-जाते हैं। लेकिन किसी के माथे पर कुछ लिखा तो होता नहीं।'

'लेकिन माइकल और कैथरीन वाला मामला बहुत तूल पकड़ रहा है। सारे शहर में चर्चा है। उन्हें होटल में कमरा देने से पहले आपको कुछ तो पड़ताल करनी चाहिए थी।' शर्मा एडीटर, कपूर साहब पर हावी होते हुए बोले।

'की थी, जाँच भी की थी। दोनों ने अपने आपको पति पत्नी बताया, देखने

मे लगते भी थे। लेकिन यह किसे खबर थी कि कैथरीन के ब्रीफकेस मे चरस-गांजा भरा पड़ा है। जाने किसकी मुखबरी पर रात को पुलिस ने रेड किया। उस समय वे दोनो···', थोड़ा रुककर कपूर साहब बोले, 'बैड पर कुछ उलट-पुलट हालत मे पड़े थे।'

'और आपको मालूम है कि वे दोनो ही अविवाहित हैं।' शर्मा साहब ने तीखे स्वर में कहा।

'मुझे तो अब मालूम हुआ है', कपूर साहब ने बेबस स्वर मे कहा, 'पहले मालूम होता तो···तो हमें भी नौकरी करनी है, शर्मा साहब। होटल मेरे चाचा का तो है नही, वेतन-भोगी कर्मचारी हूँ। अपनी ओर से तो हर समय चौकस रहता हूँ। गफ़लत हो जाती है, तब मालूम पडता है।'

'अभी और बहुत कुछ मालूम पड़ेगा आपको।' शर्मा एडीटर, कपूर साहब को आतंकित करते हुए बोले, 'आगे बताइये।'

अब तक मैनेजर कपूर उन्हे अपनी अनुभवी दृष्टि से तोल चुके थे। धैर्यपूर्वक बोले, 'बैठकर बात करते हैं, शांति से। जल्दी किस बात की?' फिर वेटर को आवाज लगाते हुए बोले, 'राधे, दो कप चाय ले आओ स्पेशल। और हां, शर्मा साहब के लिए दो समोसे ताजा।'

'अरे साहब', शर्मा एडीटर सहज होकर बोले, 'आप तो औपचारिकता मे पड गये।'

'अजी साहब, औपचारिकता काहे की', कपूर साहब ने विहँसकर कहा, 'चाय तो आजकल सजा है। आये हुए मेहमान को देनी ही पड़ती है।' और दोनो बेमतलब ठठाकर हँसे।

'आपका पेपर देखता रहता हूँ।' कपूर साहब चतुराई पर उतर आये, 'बड़े परिश्रम से निकाल रहे हैं आप।'

'बड़ा संघर्ष करना पड़ता है, साहब। सारे लोकल पेपर्स मे 'धधकती ज्वाला' की अपनी अलग पहचान है। लेकिन अफसोस की बात···' शर्मा साहब दुखी स्वर मे बोले, 'सर्कुलेशन सबसे कम। लोग चटपटी चीजें मांगते है। और शर्मा जिस शख्स का नाम है, वह दे नही सकता।'

'अभी दैनिक 'चिंगारी' वाले विकलजी भी आये थे, इसी सिलसिले मे।' कपूर साहब ने बात का ढब बैठाते हुए कहा।

शर्मा की मुखाकृति कुछ विकृत हो गई। समोसे का एक बड़ा-सा टुकड़ा मुँह मे ठूँसते हुए बोले, 'हॉफमेड है, एडीटर की दुम। अँगूठा छाप है, यूनिवर्सिटी का बी० ए० बताता है खुद को। एक नम्बर का ब्लैक-मेलर।'

'कह रहा था—यह न्यूज 'चिंगारी' मे दूँगा।' कपूर साहब ने बात को आगे बढ़ाते हुए कहा।

'जरूर देगा। एक दिन लेट। मेरे पेपर से हू-ब-हू टीप कर।' शर्मा ने गर्व से कहा, 'और प्रूफ की गलतियाँ छोड़ेगा बोनस।'

'सो तो है।' कपूर साहब ने शर्मा को उत्साहित करते हुए कहा, 'पूरे पेपर में दो-चार बासी खबरें होती हैं और बाकी पूरा पेपर भरा रहता है विज्ञापनों से।'

'आप उसे न्यूज-पेपर ही न कहें तो अच्छा है।' शर्मा साहब सुझाव देते हुए बोले, 'इश्तहार कहना अधिक सटीक होगा। वह निकालता ही विज्ञापनों के लिए है। पर मेरी बात और है, कपूर साहब', कहते-कहते शर्मा साहब गंभीर हो गये। 'पैसा ही सब कुछ नहीं होता, मिस्टर कपूर। हरभजन चूर्ण, नेत्र-ज्योति सुर्मा, नरेन्द्र बाम और अफीम छुडाऊ गोलियों वाले पीछे पड़े रहते हैं, लेकिन गलत विज्ञापन मैं नहीं छाप सकता। पिछले विशेषांक के लिए इंडिया जीनिंग एण्ड प्रोसेसिंग फैक्टरी ने पूरे पेज का विज्ञापन दिया, लेकिन अपने राम के नहीं जँचा, तो साफ इन्कार कर दिया। पैसा जाये भाड़ में, पेपर की गरिमा रहनी चाहिए।' शर्मा ने चाय की प्याली तिपायी पर रखते हुए समोसे में काँटा फँसाया।

'पढ़ने वालों की बुद्धि का दिवाला पिट रहा है। पेपर नहीं देखते, उन्हें ऊपर की टीप-टाप चाहिए। आप थोड़ा 'धधकती ज्वाला' के गेट-अप की तरफ ध्यान दें और उसे दो पेज की बजाय चार पेज का कर दें, तो सर्कुलेशन ठीक हो सकता है।' कपूर साहब ने सुझाव दिया।

'मेरे दो पेज दूसरों के बीस पेज पर भारी पड़ते हैं, कपूर साहब', शर्मा की आवाज में आत्माभिमान की खनक थी, 'अपने मुँह से क्या कहूँ, पेपर खुद बोलता है। दो पेज में सौ आदमियों को नंगा करता हूँ।'

सर्कुलेशन के हिसाब से 'शक्तिदूत' ठीक चल रहा है।' कपूर साहब ने बात का रुख बदलते हुए कहा, 'उसके एडीटर दीप किरणजी थोड़ी देर पहले होकर गये हैं। काफी सुलझे हुए आदमी लगते हैं।'

शर्मा एडीटर को यह बात कुछ अपमानजनक लगी। उनके मुँह में समोसे का एक बड़ा टुकड़ा था अतः अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करने से पूर्व उन्होंने हाथ का पंजा उठाकर कपूर साहब को थोड़ा रुकने का संकेत किया। जल्दी-जल्दी मुँह चलाते हुए बुदबुदाए, 'ढपोल शंख है।' फिर विह्वलतापूर्वक समोसा निगलते हुए बोले, 'बजर लठ।' हरे धनिये का एक पत्ता उनके ऊबड़-खाबड़ दाँतों में फँसा रह गया था। कपूर साहब की दृष्टि उसी पर अटक गयी। शर्मा साहब बोलते गये, 'कचहरी के आगे फट्टा लगाकर नकल-नवीस बन जाते, तो अच्छा रहता। पत्रकारिता उनके बूते के बाहर है। कोई वैचारिकता नहीं, कोई चिंतन नहीं, युग-बोध नहीं। और जो कुछ है, उसमें वजन नहीं। रिक्शे में मुनादी करते हुए अखबार बेचते हैं। इससे अच्छा था 'किरण दन्त मंजन' बेचते, लोगों का फायदा हो जाता।' धारा-प्रवाह बोलते हुए शर्मा को लगा जैसे कपूर साहब लगातार उनके दाँतों की

ओर घूर रहे हैं। तर्जनी को मुंह में ठूंसकर उन्होंने दाढ़ के आसपास घुमाया। हरी मिर्च का एक कतरा सहज ही सुलभ हो गया। उसे परे उछालते हुए बोले, 'समोसे अच्छे बने हैं, मिर्च कुछ तेज है।'

'आप रोज सौ आदमियों के मिर्च लगाते हैं, हमने तो···।' कपूर साहब ने चुटकी ली और खिलखिलाकर हँस पड़े।

'वाह। क्या खूब बात बिठाई है।' शर्मा साहब इस चुटकी से खिसियाने होकर बोले, 'आपको तो पत्रकार होना चाहिए था।'

'धधकती ज्वाला' का वार्षिक ग्राहक हमें नहीं बनाइयेगा?' कपूर साहब मामले को अब जल्दी निपटाने पर उतर आये।

'क्या बात करते हैं, साहब।' शर्मा साहब परम-आत्मीयता पर उतर आये, 'ग्राहक भी बनायेंगे और आपसे तो होटल का विज्ञापन भी लेंगे—फुल पेज का।'

'क्यों गरीब मारी करते हो, यार?' कपूर साहब दोस्ताना अंदाज में बोले, 'सब मेरी जेब से जाना है। चौथाई पृष्ठ ही ठीक है।'

'वाह साहब। यह कैसे हो सकता है? इतना बड़ा होटल है, हॉफ पेज से कम नहीं चलेगा।' शर्मा साहब ने थैले में से रसीद-बुक निकाल ली।

'बड़ा होटल कहीं भगा जाता है? फिर कभी देख लेंगे। आज तो मेरी मानें।'

'खैर! जैसी आपकी मर्जी। चौथाई भी चलेगा। और यह लीजिए वार्षिक शुल्क की रसीद।'

कपूर साहब ने अखरे रुपये सधन्यवाद चुकाते हुए कहा, 'विज्ञापन का पेमेंट अंक निकलने पर हो जायेगा।'

'कोई बात नहीं, घर की बात है।' शर्मा साहब ने लापरवाही से कहा।

'और यार', कपूर साहब प्यार से बोले, 'उस खबर-वबर पर अब मिट्टी डालिये जी···खामख्वाह बवंडर खड़ा हो जायेगा।'

'नहीं बड़े भाई, कोई दम ही नहीं है इस न्यूज में। मैंने देख लिया है।' कुछ रुककर बोले, 'फिर आप तो 'घर के आदमी है।' अच्छा, अब चलूंगा। बड़े काम पड़े हैं', कहकर शर्मा साहब खड़े हो गये।

कपूर साहब ने उन्हें लौटते हुए देखा, 'च्-च्-च्' कूल्हों पर से घिसी हुई उनकी पैंट देखकर वे तरस खा गये' 'अधिक-से-अधिक पन्द्रह दिन और चलेगी।' उन्होंने सोचा और बेटर को एक चालू चाय, दो बासी समोसे गर्म करने का आर्डर देकर 'जाग्रत-प्रहरी' के हितैषी जी की प्रतीक्षा करने लगे। ●

एक मुश्त खाक

□

नीलप्रभा भारद्वाज

कुछ समय बाद फिर से कोई न कोई दरवाजा खुलता और धीरे से बन्द हो जाता। निगाहें घुमाए बिना ही वह सब कुछ समझ जाते, 'कोई नरमुंड निकला होगा और शंकित निगाहों से घूरकर दरवाजे के पीछे गुम हो गया होगा।' सुबह से यही प्रक्रिया दोहराई जा रही है। वे सब कुछ जानते हैं, समझते हैं, फिर भी, क्या चाहकर भी वे यहाँ से उठ सके हैं?

घनी छाया और लम्बी-लम्बी जटाओं वाले इस वट वृक्ष के नीचे बैठे-बैठे चन्नासिंह ने कितने बरस गुजार दिये? इसका पता न उन्हें था और ना ही पता लगाने की कोशिश उन्होंने की थी। पता भी कैसे चलता? वर्तमान अतीत बन चुका था। आज तो वे मात्र ग्यारह वर्ष के बच्चे थे।

वही जगह है वही धरती। मगर आज ना वहाँ मदरसा और ना ही मौलवी इनायतउल्ला खाँ। फिर चित्रपट-सा सब कुछ आँखों के आगे से गुजरता चला गया। ऐसा ही एक दिन था वह भी। अचानक मदरसे में भगदड़ मच गयी। चन्ना भागकर दूसरे दर्जे में पहुँचा और सन्ते का हाथ खींचकर वह चीखा, 'सन्तेआँ! भज्ज घर नूँ···द···ऽ···गा···हो···गया।'

और सन्ता भी भाग लिया। दंगा क्यों होता है? लोग क्यों एक-दूसरे का कत्ल करते हैं? इसका जवाब तो इन बच्चों के पास था नहीं। वे तो चाहते थे सिर्फ माँ के आँचल में छिपना। सो वे भाग लिए गेट की तरफ। मगर यह क्या? मौलवी इनायतउल्ला उनका रास्ता रोककर खड़े हो गये और देखते ही देखते मदरसे का दरवाजा अन्दर से बन्द कर लिया।

बच्चे थरथर काँपने लगे। एक तो मौलवी साहब से वैसे ही दहशत खाते थे। दूसरा था उनका मजहब। दोनों जोर-जोर से रोने लगे।

मौलवी साहब ने आगे बढ़कर उनके मुँह पर अपनी हथेलियाँ रख दीं। 'ये गैर मुहल्ला है, तुम यहाँ से बचकर नहीं जा सकोगे, इसलिए···।' अगले शब्द उत्तेजक नारों में डूब गये।

बच्चे और भी सहम गये। वे जितना रोते, मौलवी साहब की हथेलियों का

दवाव उतना ही बढ़ता जाता और उससे भी ज्यादा उनकी आवाज़ें घुटती जाती।

'मौलवी साहब ! मौलवी साहब !' मदरसे के दरवाज़े ज़ोर-ज़ोर से भड़-भड़ाए जाने लगे। अन्दर काफ़िरों के कितने बच्चे हैं ?'

'कोई नही है, भाई।' मौलवी ने कहा।

'जरा दरवाजा खोलकर दिखाएंगे।' दूसरी आवाज़ आई।

'खुशी से—खुशी से, देख लो भाई ! मगर काफ़िरो का एक भी बच्चा भला मैं क्यों छिपाने लगा, खुदा क़सम यहां कोई नहीं है।'

'अल्लाह हो अकबर'''।' के जवाब मे विरोधी नारे निकट आते जा रहे थे। और देखते ही देखते, खुदा के बन्दे और महादेव के भक्त एक-दूसरे पर भूखे शेर की तरह झपट पड़े।

बस इतना समय काफी था मौलवी साहब के लिए। वे बच्चो को खींचते हुए अन्दर ले गये। गोदाम के दरवाज़े को धक्का देकर उन्हें, अन्दर की दीवार से सट जाने की ताकीद कर खुद संडास में जा छिपे।

बाहर चीख-पुकार, नारे'''अल्लाह, महादेव, नानक के नाम की दुहाई सब गडमड हो गये। 'अल्लाह हो अकबर' का नारा डूबता गया और 'हर-हर-महादेव' बुलन्द हो गया। मदरसे के दरवाज़े एक बार फिर भड़भड़ाए गये और कुछ देर बाद वे चरमराकर टूट भी गये।

'स्सा'''ला'''।' भद्दी-भद्दी गालियाँ'''दिल दहला देने वाली चीख'''और जाति के नारे फिर से शुरू हुए।

भड़ाक से गोदाम का दरवाज़ा खुल गया। भीड से पहले उनकी संगीनें गोदाम के अन्धेरे को टटोलती हुई आगे बढ गयी। चन्ना और सन्ता एक साथ चीख पड़े।

'कौन हैं वे ?'''बाहर निकल आओ चुपचाप।' एक ने चीखकर ललकारा।

भीड़ ने देखा दस और बारह साल के दो बच्चे। धूल से भरे कपड़े, खुले जूड़े'''आँखो से बहती धाराएँ और चेहरे पर मौत की दहशत।

संगीनें और नंगी तलवारें पीछे हट गयी। 'अपने बच्चे'''?' भीड ने पुकारा अपने खून को'''तसल्ली दी, अतापता पूछा और अपने घेरे में लेकर बाहर निकल आयी।

मौलवी साहब आँगन में पड़े तड़फ रहे थे। भद्दी सी एक गाली देकर, एक ने अपनी संगीन उनके पेट मे घुसेड़ दी और दूसरे ने ठोकर मारी। खून का एक फ़व्वारा छूट गया। 'खून तो इसका भी लाल है ? मौलवी साब ना होते तो हमें कौन बचाता ?' उस समय इससे ज्यादा सोचने की शक्ति चन्ने मे नही थी।

आज बहुत कुछ सोच-समझ सकते हैं चन्नासिंह।

'आदमी के भीतर कौन सा दरिन्दा छिपा हुआ है जो उसे आदमी नहीं बनने देता। धर्म के नाम पर लाशों के अम्बार क्यों लगते हैं? अपने ही हाथों बिछायी गयी लाशों के ऊपर बैठकर वह कभी रोता और कभी खिलखिलाता क्यों है? वही सूरज है, वही धरती, वही हवा, वही मिट्टी फिर वह सिर्फ धरती को ही क्यों काटता-छाँटता है?' कितने ही प्रश्नचिह्न उभर आए हैं उनके भीतर, 'इन प्रश्नों के उत्तर आदमी ढूंढ़ सकता तो वह बार-बार इतिहास को क्यों दोहराता? मौलवी इनायतउल्ला खाँ जैसे फरिश्ते का खून क्यों बहाता?'

'सलाम अलैकुम, भाई जान!' एक हाथ में लम्बी नली वाला हुक्का और दूसरे हाथ मे मेंहदी रंगी दाढ़ी को सहलाते हुए, एक मियाँजी आकर उनके पास बैठ गये।

'वालेकुम सलाम!' चन्नासिंह सीधे होकर बैठ गये।

'सुबह से देख रहा हूँ, आप इस पेड के नीचे बैठे हैं। कहीं रास्ता तो नहीं भूल गये? परदेशी है न?

'परदेसी?' वे चौंके। फिर लम्बी साँस खींचकर धीरे से बोले, 'परदेशी ही समझो।'

'समझो? क्या मतलब?' मियाँजी की आँखें फैल गयी।

'अब तो परदेशी ही हूँ, पर कभी···।'

'यहाँ के वाशिन्दे रहे होंगे जनाब!'

'वाशिन्दे, लाहौर मेरी जन्मभूमि है।'

'समझा···अब समझा···मादरे वतन के दीदार को आए है आप?'

'आया तो पंजा साहब की यात्रा को था, मगर वो···।' असल में आपने ठीक कहा।'

'ओह! अपनी···मिट्टी की खुशबू मे कैसा तो जादू होता है! कोई उनसे पूछे जो अपना वतन छोड़कर गये हैं। आ···ज भी···उन···की···रूह तड़प रही है।' और मियाँजी की आँखों में अतीत उतरने लगा।

'अम्मी-अब्बा गये, आपा-खाला गयीं, और गये दो भाई, इन्ही दंगों मे।' उनकी आवाज मे दर्द था।

सच ही तो कहते होंगे, मियाँ। चन्नासिंह अकेले ही तो नही हैं और भी तो सैकड़ो लोग उनकी तरह उजड़े होंगे। उन्हें आज तक याद है जो कुछ उन्होंने लाहौर मे देखा था। उसका जोरदार जवाब फिरोजपुर मे दिया जा रहा था। चन्नासिंह का अतीत फिर से डैने फड़फड़ाने लगा।

मदरसे से निकलकर अपने आदमियों से घिरे जब वे घर पहुँचे तो सन्ता चीखकर उनकी टांगो से लिपट गया था और चन्ने ने दोनों हथेलियों से अपनी आँखें ढक ली थी। वहाँ न बापू थे, न बेजी, न बाबा-बेबे न नन्हा बन्ता। वहाँ था

सिर्फ लाल-सुर्ख खून और बिखरे हुए लोथड़े।

उसके बाद भीड़ के रेले के साथ धकियाते हुए कैसे वे सन्ते का हाथ थामकर हुसैनीवाला और फिर फिरोजपुर शरणार्थी-कैम्प मे पहुँच गये, इस बात का पता वहाँ जाकर ही चला था। शिविर मे अपने जैसे ही बच्चों को देखकर चन्ने के आँसू सूख चले थे और शायद उसी घड़ी से ग्यारह वर्ष के चन्ने से बदलकर वह चालीस वर्ष के प्रौढ़ चन्ना सिह बन गये। सन्ता जब भी रोता, वे कहते, 'ना रो मेरे वीर। हुण माँ-प्यो ताँ आप्णा नूँ लभणे नई। जे तू रोएगाँ ताँ मैनू वी रोण आएगा।' और सन्ता चन्ने से लिपटकर इस तरह सो जाता जैसे कोई दूध-पीता बच्चा अपनी माँ से।

शिविर मे दो वक्त की रोटियों का जुगाड़ था। लोगो से मिलने वाली सहानुभूति, दुलार उन्हें बहकाता रहा था। धीरे-धीरे शिविर की भीड़ छँटने लगी। लोग कम होने लगे और रह गये थे सिर्फ उन जैसे कुछ अनाथ बच्चे। रोटी बाँटने वालों के साथ कुछ नये लोग आते, शिविर मे घूम-फिरकर कुछ बच्चो को देखते और किसी बच्चे को अपने साथ ले जाते और वह बच्चा फिर लौटकर कभी शिविर मे नही आता।

उस शाम भी एक स्त्री-पुरुष आये। नेतानुमा आदमी घूम-घूमकर उनको शिविर के बच्चे दिखाता रहा और उनकी तारीफ़ें भी करता रहा। स्त्री सन्ते के पास आकर रुक गई। उसने सन्ते को प्यार किया। टॉफियों का एक डिब्बा दिया, 'मैं तुम्हारी माँ हूँ बेटा!' कहकर उसे गोद मे उठाया तो सन्ता सहम गया।

'तुम मेरी माँ नही हो।' सन्ता छटपटाकर गोद से उतर गया।

'आज जाने दो, कल सही। बच्चा सहमा हुआ है।' और स्त्री-पुरुष उसे प्यार कर चल दिये थे।

चन्नासिह समझ गया। मेरे भाई को नये माँ-बाप मिल रहे हैं। मेरा भाई मुझसे छिन रहा है। कल का गया वह कभी नही लौटेगा।

उस रात के गहरे अँधेरे मे, सन्ते का हाथ थामकर वह कैम्प से निकला तो फिर वापिस नही लौटा।

।' मियाँ ने हुक्का गुडगुड़ाया। अतीत फिर से वर्तमान बन गया।

'आखिर आदमी लडता क्यो है? न मैं लड़ना चाहता हूँ, ना तुम···ना कोई जाति लडना चाहती है न मुल्क, सब अमन चाहते हैं फिर भी सब लड़ते है।' मियाँ ने सोच मे डूबते हुए कहा।

'कुरान शरीफ कहता है, सब एक खुदा के बन्दे है।'

और ग्रन्थ साहब मे कहा गया है—'इक नूर ते ए जग उपज्या कोठा भले कोठा मंदे।'

'फिर अल्लाह-ईश्वर के नाम पर यह लड़ाई कैसी ?'

'नहीं। असली खेल है स्वार्थ का। धर्म तो एक ढाल है।'

और दोनों बुजुर्ग खिलखिलकर हँस दिये।

'इसहाक मियाँ! इसहाक मियाँ?' उन्होंने देखा कोई आवाज दे रहा है। इसहाक उठे लुंगी झड़काई, हुक्का उठाया और बोले, 'चलूँ! गाहक आया है। सामने मेरा ढाबा है···कोई खिदमत कर सकता तो···पर···मुसलमान हूँ न।'

'ऐसा मत सोचो, इसहाक भाई! खुदा ने धर्म की मोहर लगाकर बन्दे को पैदा नहीं किया। आदमी तो सिर्फ आदमी है ये दीवारें तो हमने ही खड़ी की है।'

'सुबहान अल्लाह! सुबहान अल्लाह।' बेसाख्ता उनके मुँह से निकल गया। इसहाक मियाँ आदाब बजाकर चले गये।

हवा का एक ठंडा झोंका उनकी कनपटियों से टकराया तो वे सचेत हुए। पगड़ी के नीचे से बह-बहकर आता हुआ पसीना उनके कुर्ते में समा रहा था। जेब से रूमाल निकालकर पसीना पोछा और तने के साथ जरा सीधा होकर बैठ गये। नजरें फिर सामने दरवाजे पर जाकर अटक गयी।

दरवाजा अब भी बन्द है। फिर भी उनकी आँखें सब कुछ देख सकती हैं।

खुला बड़ा आँगन···मजबूत पायों का बहुत बड़ा तख्त···उस पर बैठी कपड़े सिलती बेजी···ढारे से उठता हुआ धुआँ···खुरली में मुँह मारती भैंसें···नीम की छाँव तले लेटे बाबा···झुकी कमर लिए, कोठे के अन्दर-बाहर आती-जाती और जपुजी का पाठ करती बेजी···काँव···काँव करते कव्वों पर ढेले मारता हुआ बन्ता···एक सिरा दाँतों में दबाकर पगड़ी बाँधते बापूजी।

'कहाँ गया बापू जी का ताम्बई चेहरा···बेजी की दुलार भरी नजरें···वाहे गुरु, वाहे गुरु करते हुए बाबा···।'

आज एक-एक बात चन्नासिंह को याद आ रही है।

कैम्प से भागने के बाद वे गली-गली भटकते रहे। मैले-फटे कपड़े, खुले जूड़े··· नंगे पाँव। इन अनाथ बच्चों पर कितने लोगों ने तरस खाया, रोटी-टुकड़ा दिया, कपड़ा दिया और दुलार भी। पर चन्नासिंह को माँगकर खाना अच्छा नहीं लगा।

उस बात को याद कर आज भी उनकी आँखें छलछला आयी हैं। कितना संघर्ष किया उन्होंने जिन्दगी से? ये कहानी एक दिन की तो है नहीं। तपती धरती रही या बरसता आकाश, गली-गली नंगे पाँव फेरियाँ लगाकर कंघा, चाकू, साबुन, पिन, कैंची बेचते और रात को कभी स्टेशन, कभी धर्मशाला तो कभी बस-स्टैंड पर दो बालक, माँ-बाप की आँखों के तारे, धरती पर लुढ़क जाते मगर देखने के लिए न बापू आते और ना बेजी।

जिन्दगी कहाँ से कहाँ तक सरक गयी। आज उनके पास क्या नहीं है? बहुत

बड़ी किराने की दुकान-मकान और दोनों भाइयों का फलता-फूलता परिवार फिर भी अतीत···।

'कितना मूर्ख है आदमी भी अतीत से नाता तोड नही सकता।' उन्होंने सोचा—

'अतीत ही वर्तमान का आधार है। अगर अतीत इतना कटु ना होता तो वर्तमान भी इतना सुखद कैसे लगता।' उन्हें अन्तरात्मा से प्रत्युत्तर मिला।

क्षितिज मे अरुणिमा फैल गयी। 'जत्था अब वापस लौटने की तैयारी मे होगा।' सोचकर वे उठे। अतीत और उसकी स्मृतियों को अपने भीतर समेटकर भारी मन से चल दिए।

'सुनिए।' यह एक बुर्कापोश औरत थी।

वे रुक गये।

'आप फिरोजपुर से आए हैं ?'

'जी, कहिए ?'

अपने हाथ की छोटी-सी पोटली को आगे बढाते हुए उसने कहा, 'मेरी ये नज़र शाह पीर की मजार पर चढ़ा दीजियेगा। आपकी शुक्रगुजार हूँगी मैं।' औरत ने झिझकते हुए कहा। चन्नासिह ने पोटली थाम ली।

'एक अर्ज और है···।'

'कहिए।'

'कभी इधर आना हो तो उस दरगाह से 'एक मुश्त खाक' लेते आइयेगा। मेरा मकान वो सामने है गुलमोहर के नीचे।'

वे अवाक् उसका मुंह तकते रहे। बुर्के की नकाब से झांकती, आँखो की बोली समझने मे उन्हे देर न लगी।

'वह सामने वाला घर मेरा ही है बडी मेहर होगी आपकी।' और वह चली गयी।

चन्नासिह पूछना चाहते थे, 'भला वह घर तुम्हारा कैसे हो गया ? वहाँ तो बापू हैं, बेजी है, बाबा-बेब्बे है, और नन्हा-सा बन्ता है।' मगर वह कुछ कह न सके।

जिस धरती की 'मुश्त भर ख़ाक' को वे मस्तक से लगाने के लिए आये थे। उस धरती के लोग भी सरहद पार ख़ाक को मस्तक से लगाने की चाह अपने सीने मे समाए हैं।

उन्होंने मुश्त भर खाक उठाई और मुट्ठी को ढीला छोड़ दिया। मिट्टी भुर-भुराकर धरती पर फैलती रही। उन्होने अपनी खाली हथेलियों को उलटा-पलटा, 'ठीक यही मिट्टी तो वहाँ है !'

वही धरती, वही मिट्टी, वही सूरज और वही हवा, वही पानी—वही

आकाश'''फिर आदमी क्यों उसके टुकड़े करना चाहता है ? क्यों धरती के टुकड़ों के अलग-अलग नाम रखता है ?' क्यों वह अलग-अलग देश बनाता है ?' अनेक प्रश्न उभर आये उनकी बूढ़ी पेशानी पर।

उन्होंने अपनी हथेली फैला दी। मिट्टी के कण अभी तक इसमें चमक रहे थे।

वे धीरे-धीरे उठे और आगे बढ़ गये, इस अजानी औरत के लिए, वतन की 'मुश्त भर ख़ाक' लाने के लिए।

माँ ! तुम कैसी माँ हो

□

सुदर्शन राघव

मैंने चुपके से रसोई में झांका, पिंकी थी। आज भी उसके हाथ मे रोटी थी, जिसे वह अपने फ्राक के घेरे मे छिपाने का प्रयास कर रही थी। उसका इस तरह रोटी छिपाकर ले जाने का सिलसिला कई दिनों से चल रहा था।

मुझे उसकी इस हरकत को छिप-छिपकर देखने में बड़ा आनन्द आता था, परन्तु आज मुझे गुस्सा आ गया। मैं रसोई मे पहुँची। मुझे देखते ही उसके चेहरे का रंग उड़ गया और उसने झट से अपने दोनों हाथ पीछे को कर लिये और बोली, 'कुछ नईं मम्मी कुछ नईं है।' और वह रुँआसी हो उठी।

उसके हाथो को सामने लाकर मैंने देखा तो दो रोटियाँ थी, जिन्हें छिपाने के लिए उसने उन्हे तोड़-मरोड़कर लपेट रखा था।

'यह क्या है? क्यों ली ये रोटियां?' और मैंने उसका उत्तर सुने बिना ही चपत लगा दी, उसका रोना बढ़ गया।

'मम्मी नीचे वाली पिलोल (पिरोल) में भूली (भूरी) तुत्ती (कुत्ती) ने बत्ता दिया है। उगे ही लोती खिलानी है। दे दो ना मम्मी, नही तो वो मल दायदा। दे दो मम्मी!'

मैं अपने व्यवहार पर झेंप गयी मैंने अपनी आन रखने के लिए थोड़ा डांटकर कहा, 'अगर रोटी चाहिए थी तो हमसे माँगी क्यों नही? चुपके से ले जाना तो चोरी है। आइन्दा हमसे पूछे बगैर ऐसा ना करना समझी।'

वह रोना भूल गयी थी। रोटी मैंने उसके हाथ में थमा दी, सो वह जल्दी से नीचे की ओर भागी।

'देख पिंकी दूर से ही रोटी डाल देना, नही तो कुतिया काट खायेगी।' मैंने पीछे से आवाज लगायी।

'अत्था मम्मी दी।' कहती वह नीचे उतर गयी।

अपनी बच्ची के दिल में बेजुबान जानवर के लिए इतनी हमदर्दी देखकर मुझे राहत मिली। मैं अपने काम मे लग गयी किन्तु मन में पछतावा रहा कि बेबात ही मैं अपनी मासूम बेटी पर हाथ छोड़ बैठी।

अब प्रतिदिन वह मुझसे कुत्ते के पिल्ले के लिए रोटी माँगकर ले जाती। वह खुश थी। मैं भी खुश थी, क्योंकि मेरी बच्ची खुश थी। अब खुश होकर बराबर मुझे पिल्ले के बारे में कुछ-न-कुछ बताती रहती। कभी-कभी मैं उसकी इन बातों से उकताकर उसे डाँट भी देती। दिन बीतते गये। पिल्ला बड़ा हो रहा था। उसकी माँ उसे बड़े प्यार से, दूर बैठी, उसे देखती रहती थी।

'मम्मी-ओ-मम्मी !'

'क्या बात है ? कमबख्त ? रात को भी दो घड़ी आराम नहीं करने देती।'

'मम्मी वो पिल्ला है न, बन्द हो दया है। बोत देल से लो रहा है।' वह कहे जा रही थी।

'चुपचाप सो जा, रात को भी तुझे उसी के ख्वाब आ रहे हैं। रो रहा है, तो कौन-सा मर जायेगा ?' और मैंने करवट बदल ली। वह सहमकर चुपचाप लेटी रही। मैंने महसूस किया कि पिंकी की आँखों में नींद नहीं है। उसका ध्यान तो उस पिल्ले की ओर था, जो अपनी माँ से बिछड़कर रो रहा था।

'मम्मी-ओ'''मम्मी जी।' उसने सहमी हुई आवाज में कहा। मैंने पीछे मुड़कर देखा, वह उठकर बैठ गयी थी।

'हाँ बेटी।'

'मम्मी जी, मुझे डल लद रहा है।'

'क्यों ?'

बाहर से कुत्ते के रोने की आवाज आ रही थी। मैंने ध्यान से सुना 'पिरोल' में पिल्ला रो रहा था और ऊपर कुतिया इधर-उधर भटकती हुई बुरी तरह परेशान-सी डोल रही थी। रात के सन्नाटे में यह सब बड़ा भयानक लग रहा था। पिल्ले की आवाज़ सुनकर उसकी माँ रोकर अपना पास ही होना जतलाती थी। माँ की आवाज सुनकर एक पल को वह चुप हो जाता, पर फिर चिल्लाने लगता। बेबस मा के पास कोई उपाय न था। वह इधर-उधर भटककर फिर झरोखे पर पजे लगाकर अँधेरे में बच्चे को देखने का असफल प्रयास करती, फिर झाँककर अपनी बोली में शायद उसे सांत्वना देती थी। एक-दो बार उसने हमारे दरवाज़े पर भी चूँ-चूँ करते हुए पजे मारे, मानो सहायता की भीख माँग रही हो।

माँ की ममता को देख दिल भर आया। पर मैं कर भी क्या सकती थी ? पिरोल की चाबी सेठ के पास थी और इतनी रात गये, सेठ की कोठी तक जाना मेरे बस का न था। पिंकी को मैंने प्यार से अपने आँचल में छिपा लिया। वह सहमी-सी मेरी छाती से चिपट गयी।

'मम्मी पिल्ला रो रहा है मल गया तो उसकी माँ क्या करेगी ?'

'नहीं बेटे वह नहीं मरेगा।'

इधर वे माँ-बेटे परेशान थे, इधर हम लोगों की नींद हराम। रात धीरे-धीरे

बीत रही थी। वह रोते-रोते थक गया था, आवाज़ें अब बन्द हो गयी थी। पता नही हम लोगों को कब नींद आ गयी।

बाहर मेहतरानी बोल रही थी, 'जरा-सी लापरवाही से बेचारे नन्हे-से पिल्ले की जान चली गयी।'

'शायद किसी ने रात पिरोल मे बन्द कर दिया होगा ?' पड़ोस की एक महिला ने कहा।

'बेचारी माँ रात-भर तड़पती रही, चाहे जानवर ही क्यो न हो, मुई ममता तो सभी मे होती है।' कम्मो की माँ कह रही थी।

बाहर सब लोग कुछ-न-कुछ कहकर अपनी तरफ से पिल्ले की मौत पर अफसोस जाहिर करके उस बेजुबान माँ से हमदर्दी जता रहे थे।

···मगर मैं पत्थर की मूरत बनी सुन रही थी। पलग पर सोयी पिंकी को देखकर मन मे सोच रही थी कि इस पर क्या असर होगा, जो रातभर उस बेजुबान बेसहारा प्राणी की चिंता मे घुलती रही, और आख़िर वही हुआ, जिसकी उसे आशंका थी।

पिंकी उठते ही आँखें मलती हुई नीचे की ओर भागी। मैंने उसे रोकने की कोशिश की, परन्तु वह अनसुना कर गयी।

चन्द मिनटो मे ही पिंकी लौट आयी, उसकी आँखों में आँसू थे।

'मम्मी वह मल दया, उमकी माँ लो लई है।'

उसकी नजरें मेरी ओर उठ गयी पर मैं उससे नजरे नही मिला सकी। मुझे ऐसा महसूस हो रहा था, मानो उसकी आँखे पूछ रही हो, 'तुम कैसी माँ हो ! जो किसी माँ का दर्द नही समझ सकती।'

मैंने मेहतरानी को बुलाया और उसके हाथ में कुछ सिक्के टिका दिये और मृत पिल्ले को कही दूर फैंक आने को कहा।

पिंकी का ध्यान दूसरी ओर लगा दिया था। बच्ची ही तो थी बहल गयी। सब सामान्य हो गया, जैसे कुछ हुआ ही नही पर आज तक वह कुतिया अपने बच्चे की याद मे आकाश की ओर मुंह किये रोती है।

सब लोग उसे अपने दरवाजे से दुत्कार-मारकर भगा देते है, मानो उन्हे उसके रोने से अपने अनिष्ट की आशका होती है।

काफ़ी दिनो से वह नही आती। शायद समय ने उसके घाव भर दिये। वह सामान्य हो गयी है। कभी-कभी दरवाजे पर आ बठती है। पिंकी जब उसे रोटी डालती है, वह नही खाती। उसके इर्द-गिर्द चक्कर काटते हुए पूँछ हिलाने लगती है। शायद उसे देखकर अपने बच्चे की याद ताजा कर लेती है।

अब मैंने सोच लिया है, जैसे ही वह आयेगी भगा दूंगी। जब तक वह रहेगी उस पिल्ले की याद हमारे दिलो-दिमाग पर भी बराबर छायी रहेगी।

गुस्से का समय है, हुए बाबा आया है, कह रहा है, 'बीबीजी, बीने के आगे दुनिया कहाँ रही है।'

'कौन सी दुनिया है ?' मैंने रामनारायण पूछा।

'वही भूली दुनिया जो यहाँ घूमा करती थी।'

एक ठण्डी आह मेरे मुँह से निकली, मानो एक बोझ था सीने पर, जो आज सहसा ही उतर गया।

उसके लिए

□

अरनी रॉबर्ट्स

बहुत गौर से पादरी मैथ्यूज अपने दोस्त के चेहरे को देखते—जैसे कुछ खोजने का प्रयास कर रहे हों। ब्राउन घबराकर चाय सिप करने के बहाने अपने चेहरे के भावों को छिपाने की कोशिश करता है। पादरी मैथ्यूज की परेशान निगाहें··· ब्राउन का अपने को छिपाना और इस बीच चाय के सिप की आवाजें—कुल मिलाकर एक अजीब-सी स्थिति टँगी है उन लोगों के बीच। ब्राउन का मन कर रहा है वह भाग खड़ा हो। अगर मैथ्यूज उसकी तरफ इसी तरह देखते रहेंगे तो वह बैठ नहीं पायेगा वहाँ। अपने को एक अपराधी महसूस कर रहा है वह। कभी-कभी चुप्पी और खामोशी अपने आप में बहुत बड़ी सजा होती है—आदमी उसे सहन नहीं कर पाता। ब्राउन को लग रहा है—वह चुप्पी उसकी रगों में उतरकर जहर की तरह फैलती जा रही है।

मैथ्यूज चाय का कप खाली कर चुके हैं। उन्होंने ब्राउन के चेहरे से नजरें हटा ली हैं पर ब्राउन अब भी उन निगाहों के बोझ को अपने ऊपर महसूस कर रहा है। पादरी मैथ्यूज उसके अंतरंग मित्र हैं। अक्सर उसका समय पादरी के साथ ही बीतता था···पर पिछले सप्ताह से ही सब कुछ जैसे बदल गया—जहाँ वह घंटों बैठकर मैथ्यूज से बातें करता था, बाइबल की बहुत-सी गुत्थियों पर बहस करता था—आज वही पादरी के सानिध्य में उसे लग रहा है जैसे वह बोझिल वक्त के पंजे में फड़फड़ाता निरीह पंछी है। वह जानता है पादरी मैथ्यूज जैसा इंसान उसने अपने जीवन में कभी नहीं देखा। मैथ्यूज सही अर्थों में एक इंसान की परिभाषा थे—सौम्य चेहरा, सद्व्यवहार और ढेर सारे मानवीय गुणों का संगम। उसे जिन्दगी में कोई दोस्त मिला ही नहीं था। मैथ्यूज से मिलने से पहले 'दोस्त' शब्द ही उसे बहुत हल्का और बेजान लगता था। बहुतों से वह परिचित था पर एक दोस्त की कमी उसे सदैव अखरती थी। शुरू में जब वह इस शहर में आया और हर इतवार को चर्च जाना शुरू किया—तब पहली भेंट में ही वह उस युवा पादरी मैथ्यूज के व्यक्तित्व और विचारों से इतना प्रभावित हुआ कि वह सोचने लगा था, 'काश! पादरी उसके मित्र होते!' अपने विचार पर वह हँसा था।

पादरी भला उससे क्यों मित्रता करने लगे ? अब तक उसकी यही धारणा थी कि पादरी सागर की तरह गम्भीर होता है जो हर समय बाइबल पढ़ने में लीन रहता है और चिन्तन व मनन के दायरों में ही घिरा रहता है।

पादरी मैथ्यूज़ से जब उसका परिचय हुआ तो उसके विचार बदल गये थे। मैथ्यूज़ बहुत ही ज़ोली और व्यावहारिक व्यक्ति थे···और उसे यह पहली बार समझ में आया था कि विद्वत्ता और व्यावहारिकता एक ही व्यक्ति में साथ-साथ भी हो सकती है। वरना अब तक तो वह यही सोचता आया है कि विद्वान सिर्फ विद्वान ही होते हैं, विचारों से अलग करके उन्हें व्यावहारिक धरातल पर खड़ा कर दिया जाये तो वे चल नहीं पायेंगे···इसीलिए आजकल वह किसी भी पादरी से विश और औपचारिक बातें करने के सिवाय और कोई संबंध नहीं बना पाया था।···और फिर कब पादरी मैथ्यूज और वह दोस्त बन गये—कुछ पता ही नहीं चला था। एक-दो दिन वह नहीं आ पाता था तो पादरी बेचैन हो उठते और उसे बुलवा भेजते।

चर्च की गुम्बद पर बनी सलीब पर चील बैठ गयी है। ब्राउन उस सलीब को देखने लगा है—बलिदान की प्रतीक सलीब ! उसे अच्छा नहीं लगता कि चील जैसा खौफनाक पक्षी सलीब जैसी पवित्र चीज पर बैठे। वह सोचने लगता है, 'काश ! वहाँ कोई सफेद कबूतर बैठा होता।'

'आजकल तुमने हमारे यहाँ आना क्यों बंद कर दिया है ? मेरी शादी के बाद तुम्हारा मेरे यहाँ नहीं आना···मुझे कुछ अजीब-सा लगता है।'

पादरी की बात सुनकर वह अचकचा जाता है। इस सवाल का कोई जवाब उसके पास नहीं है, पर उत्तर तो देना ही है। वह कहता है—मैथ्यूज···मुझे समय नहीं मिल पाता···और फिर तुम्हारी नयी-नयी शादी हुई है, क्यों डिस्टर्ब करूँ··· बस इसी ख्याल से···।' पादरी गम्भीर स्वर में कहते हैं—'शादी हो जाने का मतलब यह तो नहीं होता कि आदमी दुनिया और अपने मित्रों से कटऑफ हो जाये।'

ब्राउन परेशान हो उठता है। क्या जवाब दे वह मैथ्यूज को ? इस सवाल का जवाब कितना कड़वा है वही जानता है या फिर उनकी नयी-नवेली पत्नी सोफिया। वह कैसे कहे सब कुछ पादरी को ! नहीं, वह कभी भी वह सब कुछ नहीं कह पायेगा। किसी की ज़िन्दगी विशेषकर अपने दोस्त की, का चैन छीनने के बजाय अपने आपको समेट लेना और चुप रह जाना बेहतर होगा। हाँ, वह अपने को समेट लेगा। सोफ़िया की उपस्थिति में पादरी को फेस करना उसके लिए असम्भव है। वही जानता है कि उसकी क्या हालत होती है। जिस दिन से उसने पादरी की पत्नी को देखा है वह पागल-सा हो उठा है। वरना बारात में। सबसे अधिक उत्साहित वही था। कितना चहक रहा था और हर काम और व्यस्तता को उसने अपने

ऊपर ओढ रखा था। चर्च में मैथ्यूज़ का 'बेस्ट मैन' वही बना था। तब तक भी उसे पता नही था कि सोफिया से पादरी मैथ्यूज़ का विवाह हो रहा था। उसने गौर नहीं किया था, महज एक उचटती-सी निगाह डाली थी। वधू-वेश मे सजी, चेहरे पर पड़ी जाली की पतली-सी 'वेल' के पीछे मैथ्यूज की संगिनी बहुत सुन्दर लगी थी और वह खुश हो गया था कि उसका दोस्त मैथ्यूज जितना हैंडसम था, मिसेज़ भी उतनी ही ब्यूटीफ़ुल थी।

मैरिज-सेरेमनी के बाद, चर्च से बाहर निकलकर जब वह मैथ्यूज़ और उसकी नयी दुल्हिन को बधाई देने पहुँचा था तो दुल्हिन के रूप मे सोफिया को देखकर दंग रह गया था। सोफिया और मैथ्यूज़ की पत्नी? बधाई के क्या-क्या शब्द वह सोचकर गया था···पर वहाँ पर पहुँचकर सोफिया को देखते ही उसका मस्तिष्क एक ख़ाली स्लेट की तरह हो गया था। वह अवाक्-सा कभी मैथ्यूज को·· तो कभी सोफिया को देखता रह गया था। सोफ़िया के चेहरे पर भी उसे देखकर कुछ रंग आये थे पर वह तुरन्त ही सहज हो गयी थी। मैथ्यूज ने मीठी चुटकी लेते हुए कहा था—*'क्यों भाई ब्राउन···क्या इरादा है? क्यो किसी की वीवी को यूँ एक-टक देख रहे हो?'*

लोग ठहाका मारकर हँस पड़े थे। एक फीकी-सी हँसी हँसते हुए उसने बधाई की औपचारिकता निभा दी थी। पर वह जानता था कि वह बहुत देर तक चिपकायी हुई मुस्कराहटों को चेहरे पर क़ायम नही रख पायेगा। डिनर के टाइम भी वह किसी न किसी बहाने से मैथ्यूज़ और सोफ़िया से दूर रहा था। चारो ओर के उत्साह और खुशियों भरे माहौल से बेख़बर···उसके मस्तिष्क मे एक ही सवाल था, 'क्या सोफ़िया उसके दोस्त पादरी मैथ्यूज की पत्नी बन गयी है?'

यूँ वह शराब नही पीता था। पर उस रात उसने कई पैग ले लिए थे। और फिर लॉन के एक कोने में कुर्सी पर बैठकर गम्भीरतापूर्वक सोच मे डूब गया था। *उसके कानों मे आर्केस्ट्रा का संगीत बुरी तरह चुभ रहा था। लॉन की दूसरी तरफ* डेकोरेटेड मंच पर सोफिया हँस-हँसकर मैथ्यूज़ से बातें कर रही थी···और वह सोच रहा था···पूरी क्रिश्चियन कम्युनिटी मे क्या सोफिया की ही शादी मैथ्यूज से होनी थी? काश! कोई और युवती पादरी की दुल्हिन बनती···!

विचारो के धारे मे वह पाँच वर्ष पीछे खिसक आया था। वह उस फ़र्म मे सेल्ज़ ऑफिसर था। सिर्फ तीन वर्ष पहले उसने एम० कॉम० करके जूनियर एकाउन्टेंट के रूप मे फ़र्म ज्वाइन की थी—वह भी कई सिफारिशो के बाद। अपनी निष्ठा और मेहनत के बल पर वह सेल्ज़-ऑफिसर के पद पर पहुँच गया था। मैनेजर से लेकर मालिक तक सब उससे खुश थे। और इन्ही दिनों टाइपिस्ट की हैसियत से सोफिया ने फ़र्म ज्वाइन की थी। उसके अपूर्व सौन्दर्य को देखकर हर

कर्मचारी आश्चर्यचकित और प्रभावित था। शायद सोफिया का अपूर्व सौन्दर्य ही उसकी नौकरी का आधार था। मैनेजर की पुरानी पी० ए० मिस आहूजा को दूसरे डिपार्टमेंट में ट्रांसफर कर दिया गया था। कुछ ही दिनों में सोफ़िया मैनेजर की पी० ए० बन गयी थी। पूरी फ़र्म में काम के अलावा चर्चा का केन्द्र थी—सोफ़िया। सोफ़िया रिज़र्व्ड नेचर की थी। वह कुछ ही लोगों से बात करती थी। वह भी उन कुछ लोगों में से था जिनसे सोफ़िया की बातचीत होती थी।

एक दिन वह टूर से लौटा ही था कि मैनेजर का चपरासी उसे बुलाने आया। उसके चेम्बर में जाते ही सोफ़िया वहाँ से चली गयी। कुछ औपचारिक बातों के बाद मैनेजर ने घिघियायी आवाज़ में कहा था—'मि० ब्राउन'''मैं आपको प्रमोट करना चाहता हूँ'''लेकिन मेरा एक काम आपको करना होगा।'

'मैं समझा नहीं सर—'

'टू बी वेरी फ्रेंक'''सोफिया इज़ प्रेगनेंट'''देर हो गयी वरना एबोर्शन हो जाता'''! खैर'''यू कैन हैल्प मी'''यू मैरी हर'''प्लीज़ डू दिस वरना मैं बदनाम हो जाऊँगा।'

मैनेजर का घिघियाना उसकी समझ में आ गया था। नफ़रत का एक उबाल उसने अपने अंदर महसूस किया था। व्यावसायिक प्रतिष्ठान का जिम्मेदार कहे जाने वाला व्यक्ति प्रमोशन का टुकड़ा फेंककर। अपनी हवस का परिणाम उसके सिर मढ़ना चाहता था। वह झल्ला उठा था—'आप सोचते हैं'''प्रमोशन के टुकड़े देकर आप किसी के ज़मीर को खरीद सकते हैं मिस्टर रत्ता'''आपने मुझे समझने में भूल की है।'

भड़ाक् से दरवाज़ा खोलकर वह चेम्बर से बाहर आ गया था। वह जानता था कि अब उसे डिसमिसल फ़ेस करना था।'''अगले दिन वह सामान्य था। जबकि फ़र्म का हर कर्मचारी अवाक्'''"ब्राउन जैसा व्यक्ति डिसमिस कर दिया गया सर्विस से?' अपना हिसाब फ़र्म से लेने के बाद, आखिरी बार मैनेजर से मिलते हुए उसने कहा था—'मिस्टर रत्ता'''मुझे डिसमिस करके शिकस्त आपकी ही हुई है। यह बात जान लीजिए कि जो लोग अपनी क़ाबलियत पर भरोसा रखते हैं, वे किसी की मेहरबानियों पर नहीं जीते।' मैनेजर का चेहरा राख हो गया था। उसी शाम उसने वह शहर हमेशा के लिए छोड़ दिया था।

अब वह एक लापरवाह ज़िंदगी जी रहा था। नौकरी से उसे एलर्जी हो गयी थी जैसे। अमीर बाप की कोठी में रहते हुए उसे अटपटा तो लगता था। पर अपने गुज़ारे के लिए पाँच-सात सौ रुपये के ट्यूशन्स वह कर लेता था। कुछ कहानियाँ, किताबें लिखकर मिल जाते थे।

विचारों का क्रम टूटा तो वह बगैर डिनर लिए, मैथ्यूज़ से 'गुडनाइट' करके चला आया था। मैथ्यूज़ रोकते ही रह गये थे उसे।

उस दिन अचानक फ़ोन पर सोफ़िया की आवाज़ सुनकर वह कांप गया था।

'ए'म सोफिया हीयर'''योर फ्रेंड्स वाइफ !'

''कहिये'—उसका स्वर उखड़ा हुआ था।

'मैं आपसे कुछ जरूरी बात करना चाहती हूँ। शाम को समय निकालकर आयें'''। मिस्टर मैथ्यूज़ देहली गये हुए हैं पार्टनर्स कान्फ्रेंस में। क्या आप आ सकेंगे ?'

उसकी इच्छा हुई थी कि वह फोन को क्रेडिल पर पटक दे; लेकिन अपने पर काबू रखके उसने कहा था—'ए'म सॉरी मिसेज मैथ्यूज'''आय हैव सम अपोइन्ट-मेंट टू डे'''आय कांट कम'''और सच पूछे तो मैं आपसे मिलना भी नही चाहता।'

'आप मुझसे इतनी नफरत करते हैं ? आप जितना बुरा मुझे समझते हैं मैं उतनी बुरी नही हूँ। इसी संबंध में आपसे मिलना चाहती हूँ।'

वह खीज उठा था—'देखिये'''मिसेज मैथ्यूज,मैं इस बात से दुःखी हूँ कि आपकी शादी मैथ्यूज़ जैसे महामानव से हो गयी; जोकि नही होनी थी। यह उनके साथ धोखा हुआ है।'

'क्या आप मुझे ज़िन्दगी भर इसी तरह नफरत से देखते रहेंगे ?' सोफिया की आवाज मे दर्द था।—'क्या औरत हमेशा एक सी रहती है। एक मसीहा सरीखे आदमी से मिलने के बाद भी ?' वह अब खीज उठा था—'प्लीज़ मिसेज मैथ्यूज़, मुझे क्षमा कीजिए मैं नही मिल सकूँगा। मेरी आंखो ने आपकी जो हकीकत देखी है वही मेरे लिए सबसे बड़ा सच है और जिस दिन मैथ्यूज़ यह जान जायेंगे, वह निश्चित ही आत्महत्या कर लेंगे'—यह कहके उसने फोन बंद कर दिया था। और उसके बाद कई दिनों तक वह पादरी मैथ्यूज़ के यहाँ नही गया था। और आज पादरी उसे मार्केट से जबरन अपने साथ घसीट लाये हैं।

कोई मैगज़ीन हाथ मे लिए सोफिया वहाँ आ जाती है। चटख़ जामुनी साड़ी और उसी रंग का मैचिंग ब्लाउज। उसके गोरे रंग पर खिल उठा है। गहरे काले घने बाल'''स्प्रे मे सैट किये गये है। उसे घुटन होने लगती है, सोफिया के पास बैठने से।

'तुम अपनी भाभी से बात नही करते ब्राउन, शर्म आती है क्या ?'

वह चौंक उठता है, 'नही'''नहीं। शर्माऊँगा क्यों ? भाभी से भला क्या शरमाना !'

'सोफी, यह मेरा बहुत प्यारा दोस्त है—उम्र मे पाँच साल छोटा है, मुझे बड़ा भाई-सा मानता है। जब से हमारी शादी हुई है—कटा-कटा रहने लगा है—इधर आने का नाम नही !' मैथ्यूज़ उसके कंधे पर स्नेह से हाथ रखकर कहते है।

सोफ़िया भरपूर दृष्टि से उसे देखती है। वह मुँह फेर लेता है। वह उठने को होता है कि मैथ्यूज़ हाथ पकड़कर बिठा लेते है। 'जाने तब दूँगा'''पहले बताओ

कि तुम्हारे व्यवहार में इतना अंतर क्यों आ गया ? पहले सी खिलखिलाती हँसी कहाँ खो गयी ?' फोन की घंटी सुनकर सोफिया बंगले में चली जाती है। कांच सा कुछ जैसे तड़क गया है उसके भीतर। सहसा ही उसकी आँखें गीली हो जाती हैं।

'आप जैसा दोस्त किस्मत से ही मिलता है। लेकिन इतने अच्छे दोस्त के साथ किस्मत ने खिलवाड़ किया है।

मैथ्यूज अवाक् होकर उसकी ओर देखते हैं।

'पता नहीं आप सुन सकेंगे या नहीं। लेकिन मैं अब अपने को नहीं रोकूँगा। आपकी पत्नी सोफिया' 'और आपमें कोई मेल नहीं है मैथ्यूज़'''आपके साथ धोखा हुआ है। यह आपके गले बाँध दी गयी है। आई नो हर'''वह भ्रष्ट है। एक बार प्रेगनेंट हो चुकी है'''वह'''वह मैनेजर के बच्चे की माँ बन चुकी थी। जहाँ मैं काम करता था। इसी वजह से मैं यहाँ नहीं आता हूँ। मैं उसे सहन नहीं कर सकता !'

वह यह सब कहते हुए बुरी तरह उत्तेजित हो जाता है। लेकिन मैथ्यूज शांत हैं। उनके चेहरे पर वही अपूर्व शांति है। जरा भी तो विचलित नहीं हुए हैं वे।

'एक बात बताऊँ ब्राउन'''! यह सब मैं जानता था ! वह प्रेगनेंट हुई, एक बच्चे की माँ बनी, वह बच्चा फिर मर भी गया।

'आप'''आप सब कुछ जानते थे'''फिर भी'''?' ब्राउन अचकचा जाता है।

'हाँ फिर भी। मैंने उससे मैरिज की और यूँ समझो ब्राउन कि यह सब जानने के बाद ही मैंने शादी करने का निश्चय किया। उसके रूप पर रीझकर नहीं'''पर परिस्थितियों में उसकी छटपटाहट को देखकर। ब्राउन'''कहाँ ग़लती है सोफ़िया की। सोचो'''पिता की मृत्यु एक्सिडेंट से हो जाती है'''घर की बड़ी लड़की पढ़ाई छोड़कर'''अपने कमज़ोर कंधों पर घर की जिम्मेदारी लेती है, फ़र्म का धूर्त मैनेजर उसे अपनी हवस का शिकार बनाता है'''परिवार को जिन्दा रखने के लिए उसे अपना सबकुछ लुटाकर हवस की सूली पर चढ़ना पड़ता है। ब्राउन कोई स्त्री शौक से या अपनी इच्छा से अपनी इज्जत नहीं लुटाती। सोफिया ने यह सब-कुछ मुझे बता दिया था—कोई बात नहीं छुपायी थी उसने। बताओ ब्राउन मैंने सोफिया से मैरिज करके कहाँ गलती की ?' वह फटी आँखों से मैथ्यूज़ की तरफ देखता रह जाता है। मैथ्यूज़ फिर कहने लगते हैं।

'तुम नहीं जानते। मेरी माँ ने मुझे पैदा करके रात के अँधेरे में लावारिस की तरह सड़क पर डाल दिया था—शायद मैं उसकी नाजायज़ औलाद था। उसी लावारिस बच्चे को एक औरत ने उठाकर कलेजे से लगा लिया था। बताओ ब्राउन, एक औरत जब मुझ लावारिस को उठाकर कलेजे से लगा सकती है''' अपना बेटा कहकर पाल सकती है'''तो वक़्त और क़िस्मत की ठुकराई सोफिया से मैं शादी नहीं कर सकता ? क्या अब भी सोफिया से'''तुम्हारी भाभी से तुम

नफरत करोगे ?'

'स्टिल-लाइफ' वाली पेंटिंग की तरह वह एकदम जड़ हो चुका है—कुछ देर तक कुछ नहीं कह पाता है वह और जब अपना चेहरा उठाता है तो उसकी आँखें आँसुओं से भरी हुई हैं। भर्राये स्वर में वह कहता है—'यू आर ग्रेट माइ फ्रेंड'''यू आर ग्रेट'''। मैं सिर्फ छिछले स्तर की बात ही सोच रहा था—काश ! जिन्दगी को देखने-समझने की गहराई मुझमें भी होती। सोफिया को मैंने सिर्फ गिरी हुई औरत के रूप में देखा—उसकी व्यथाओं और मर्म को समझने की अन्त दृष्टि मेरे पास नहीं थी मैंप्यूज। मुझे सोफिया से माफी माँगनी होगी।

अपनी जगह से उठते हुए उसकी दृष्टि चर्च पर बनी सलीब पर पड़ती है। अब सच ही वहाँ एक सफेद कबूतर बैठा था। •

बस एक वादा

□

मुकारब खान 'आजाद'

रात के कोई एक-डेढ़ बजे की बात है। मैं बाथरूम की ओर जा रही थी कि बगल वाले कमरे मे खुसर-फुसर सुनकर ठिठक गयी। कमरे मे अंधकार था मगर किवाड़ खुले थे। मैंने बत्ती जलाते हुए कहा, 'अब्बाजी ! अभी तक सोये नही ? किससे बातें हो रही है ?'

उजाला होते ही कमरे मे जो दिखलायी पड़ा वह कुछ ऐसा था कि मैं बिदककर उल्टे पाँव बाहर भागी। यह सब अप्रत्याशित हुआ था। मुझे इसकी न आशा थी न आशंका। शर्म और ग्लानि के मारे मेरा बुरा हाल था। दिल बेतहाशा धड़क रहा था और मुझे पसीना छूट रहा था।

मैंने कनखियों से अब्बा के खुले कमरे से हड़बड़ाकर निकलती हुई 'नेकू' को लक्ष्य किया था। उसके कपड़े अब भी अव्यवस्थित थे। उफ ! मैंने अपना कमरा बंद कर लिया और बत्ती बुझा दी। अब्बा सोच रहे होंगे—यह जुबेदा बेटी है कि *कड़ी नज़र रखने वाली सास !···मगर अल्लाह गवाह है—मैं तो अनायास ही उधर* गयी थी।

अपने पलंग पर पड़ी सोने का उपक्रम मैं ज़रूर कर रही थी पर अब आँखो मे नींद कहाँ ? दिल और दिमाग मे धमाके हो रहे थे। नैतिकता की धरती पर हवस के हवाई हमलो का ताँता लगा था।

'नेकू' हमारी नौकरानी है। उस पर उमड़े गुस्से को यह सोचकर पीना पड़ा क्योंकि उसका दोष शायद कम था। अब्बा को क्या सूझी ? यह सब कब से चल रहा होगा ? उनके दो-दो बीवियाँ हैं। चलो मेरी अम्मी से तो कम पटती थी मगर सलमा खाला तो जवान, हसीन और हँसोड़ हैं। उन दोनो के किसी काम से चार दिन के लिए मायके जाते ही पीछे से अब्बाजी कालिख़ में उतर गये। हद हो गयी !

'नेकू' कमजात समझी जाने वाली कमज़ोर औरत है···और हमारा खानदान तो इतना अफज़ल कि उसकी शाख बकौल अब्बा हुजूर के, अरब के खास घरानो से मिलती है। उन्हें तभी तो मेरे लायक कोई लड़का न मिला। पढ़ा-लिखा,

सुन्दर और कमाऊ भले ही रहा हो। खानदानी मुसलमान न हो तो अब्बा को कतई पसन्द नही। फिर मैं पढ़ी-लिखी और सैकण्डरी स्कूल की प्रधानाध्यापिका भी तो थी ! सो पटरी कही बैठी नही। नतीजन आज पैंतीस साला होकर भी कुँआरी और अकेली हूँ।

जवानी के जोश मे मैं कही बहक न जाऊँ इसके लिए अम्मी ने मुझे हर गर्मियो में ठंडी तासीर के बहाने ढेरों मिश्री के शरबत पिलाये है। मेरे बालर्दन का खयाल है मिश्री-सेवन से जवान बदन की आग ठंडी रहती है। पता नही उन्हे मेरी इतनी फिक्र क्यों थी। जबकि वे खुद गरम और गिजाएँ, और कुल्ले इस्तेमाल करते थे। मेरे लिए गरम चीजें यहाँ तक कि तेज मिर्च-मसाले भी वर्जित थे। मैं हैरान हूँ कि अनपढ़ होकर भी मुझ पढ़ी-लिखी को बेवकूफ बनाये रखने में अम्मी-अब्बा क्योंकर कामयाब रहे थे ! पर हक़ीकत मे मैं बेवकूफ थी नही।

उनका सारा ध्यान मेरी कमाई पर था। मेरा भविष्य क्या होगा, उन्हे इसकी चिन्ता थी न परवाह। खुद दुनियादार बने मुझे फ़रिश्ता बनाने की जोड़-तोड़ मे लगे थे। यह बात जब आज खुलकर समझ में आयी तो मन हाहाकार कर उठा।

विद्यालय से जब भी लौटती हूँ 'नेकू' खिदमत मे तैयार मिलती है। चाय-नाश्ता, पानी-भोजन और जो भी मैं चाहूँ हाज़िर। अम्मी-अब्बा ऊपर वाले कमरे में ठहाके लगाते होते हैं। छोटी बीबी यानि सलमा खाला की बारी हो तो इशा (रात्रि) की नमाज से पहले ही उनका कमरा मजीब हो जाता है। मुँह से चाहे कोई कुछ ना कहे पर मेरा छत पर घूमना या ऊपर वाली खिड़की, सड़क की तरफ, खोलकर बैठना उन्हें कतई पसन्द नही।

तन्हाई का आलम कभी-कभी बड़ा जानलेवा साबित होता है। बहुत भीड़ और बहुत साधनों के बीच भी इन्सान इतना अकेलापन महसूस करता है कि पूछो मत। किताबें या 'नेकू' आखिर कहाँ तक मेरा खालीपन भर सकती थी ?

हाँ कभी-कभी अल्ताफ हमारे घर आते। उनका साथ मुझे कुछ राहत देता। वह एक प्राथमिक विद्यालय मे अध्यापक थे। अवस्था अधेड़ थी। वह जब तक मेरे से बातें करते अम्मी को अब्बा ऊपर भेज देते और वह बराबर हमारे इर्द-गिर्द मँडराती रहती। यह देखकर मुझे बड़ा दुख होता। क्या मुझ पर इन्हें इतना भी विश्वास नही ? इन्हे अपनी मिश्री पर भी यकीन नही क्या ? क्या मैं एकदम ठंडी सिल ना हो गयी थी ? फिर यह अल्ताफ़ जो कई बच्चों का बाप है; क्या तो कर गुज़रेगा मेरे साथ।

अब्बा ने पीतल के बरतनो की दुकान की हुई थी पर उस पर कम ही बैठते थे। परिवार बड़ा ना था। खर्च भी अधिक नही था। सो ऐश आराम मे कट रही थी। हाँ किरदार (चरित्र) विशेषकर स्त्री-चरित्र पर वे अक्सर भाषण दे दिया करते थे। उनकी इस नसीहत का सार यह होता कि हज़ार चीजें खाये और एक

न खाये तो कोई मर नहीं जाता। सब्र बड़ी चीज़ है और औरतों को अपना खूब ख्याल रखना चाहिए। उनका लक्ष्य मैं थी या फिर सलमा खाला जो उनसे उम्र में बहुत छोटी थी।

सलमा से शादी का कारण मेरी अम्मी के लड़का न होना था। बस मैं एक सन्तान ही हुई इसके बाद उनकी भी कुछ जैसे सूख गयी थी और सलमा खाला ने भी अब तक उनकी मुराद पूरी नहीं की। सुना है मेरे अब्बा तीसरी लाने की सोच रहे हैं। खैर, मैं उनके नैतिक भाषण गर्दन झुकाकर सुनती और फिर कमरे में आकर पड़ जाती।

सुना और देखा है बसन्त एक ऋतु होती है। सावन भी कुछ होता है। रात की गहराई और दुपहर का सन्नाटा भी अर्थवान होते हैं। इन्सान के भी पख लगते हैं और वह बादलों में चमकने वाली बिजली और बादलों की गर्जन और टूट-टूटकर पड़ने वाले पानी में सांसारिक सुख चुनता है। पर मैं? मैंने इन्हें देखा नहीं, अनदेखा किया है। करना पड़ता है।'फिल्म मत देखो, गुमराह कर देती है।' अब्बा की नसीहत में यह एक संदेश भी समाया रहता।

वैसे सलमा खाला एकदम हिन्दुस्तानी औरत हैं अम्मी के कदमों पर चलने वाली। वे न तो जात-बिरादरी का रोना रोती हैं न आदर्श झाड़ती हैं। पर उनका कसूर यही है कि अपने शौहर की हर बात में, हां में हां मिला देती हैं। दोनों मानती थी कि औरत की जन्नत खाविंद के पैरों तले होती है।

उफ! अब्बा एक अदना नौकरानी से भी नहीं चूके। क्यों? सोचना पड़ रहा है कि इनकी अपनी नैतिकता कहां गयी? कहां गया ऊंचा खानदान! अपनी बेटी के लिए इनका फर्ज़ फ़ाख़्ता क्यों हो गया? क्या इस सबका विरोध नहीं होना चाहिए?

'हां, विरोध बेशक होना चाहिए, पर कौन करेगा विरोध? मैं करूंगी। यह ज़ुबेदा करेगी। ठीक है उसकी सूरत क्या होगी! सूरत भी बन जायेगी। ठहरो' मैं सोचती हुई उठ बैठी और अल्ताफ़ के बारे में सोचने लगी, दौलतखान के बारे में खयाल किया। दौलत यानी मेरा असिस्टेंट; जिसे सभी 'ख़ान साहब' कहते है। बत्ती जलायी। आहट ली। घर में सन्नाटा था। 'नेकू' अपनी कोठरी में सो गयी और अब्बा का कमरा भी अब बन्द था। मैंने भी अपनी खिड़की उढ़का ली। मैं शीशे के सामने खड़ी हुई। मैं क्या हूँ, क्या मेरी 'औरत' बाकी है अभी? यह सब देखने के लिए मैंने कपड़े उतार फेंके और पूरे बदन को गौर से देखा। फिर आश्वस्त हुई तो आगे की योजना बना डाली। दिमाग में उठते बवंडर की गति और दिशा में अभी तक कोई गतिरोध न आया था। विचार उसी रफ्तार से बाग़ी बने भागे जा रहे थे।

अपना एकाकीपन काटे न कटता था। सो मैं अल्ताफ़ को लिफ़्ट देती रही हूँ। उसे बुलाने व खुश रखने के वास्ते हज़ार अभिनय करने पड़ते हैं। यह लगाव या अपनापन नहीं मात्र समझौता है जिसे अम्मी-अब्बा मेरा प्यार समझ बैठे हैं। पर मुझे दिली सुकून कैसे मिलता ? हालांकि वह मेरी घड़ी में चाभी तक भरता, चाय का प्याला उठाकर थमाता, बिस्तर ठीक कर देता और सफर में जाना होता तो थैला-बैग भी उठा लेता।

अल्ताफ़ में पुरुषोचित दर्प का अभाव था। सो कभी-कभी मुझे उसकी खिदमत में दीनता-हीनता दिखने लगती। पर अच्छा साथ कहाँ मिलता है ! अच्छा साथ प्रतिदान माँगता है। जिसकी मुझमें हिम्मत न थी। घर वाले और समाज इजाज़त न देते। सो एकान्त-अकेलेपन के आंतर से जूझने के लिए एक खिलौना पाल लिया था मैंने।

निर्लिप्त रहने पर भी अल्ताफ़ मेरी कमजोरी बन गया। या तो यह स्वय चला आता वरना उसे बुलाना पड़ता था। वह मेरे यहाँ नाश्ता करता, काम करता तो लगता मेरे आगे पालतू या आज्ञा पालक सेवक बैठा है। इससे मेरे अह की तुष्टि हो जाती थी। उसकी 'घरवाली' को भी कुछ दे दिलाकर उसका मुँह मीठा कर देती। अल्ताफ़ की बीवी दुनियादार थी—उसके बच्चों की फीस और किताबों, कपड़ों का खर्च भी मुझे उठाना पड़ता था।

दूसरी तरफ दौलतखान था जो मेरा सहायक होकर स्कूल में आया था। वह निर्भीक और कर्मठ अध्यापक था। जो कहना होता बिना लाग-लपेट के कह दिया करता। वह भी हफ़्ते दो हफ़्ते में मेरे घर आ जाता। उसने ताड़ लिया कि मुझे अपने एकाकी जीवन की कितनी बड़ी कीमत चुकानी पड़ रही है। उसने एक दिन बातों-बातों में मुझे अपनी कमज़ोरी का एहसास दिलाया तो मैं उसका मुँह देखती रह गयी थी। बोला, 'सॉरी मैडम ! यहाँ हम हैड और असिस्टेंट नहीं हैं। घर है घर की बात कर रहे हैं।'

ख़ान मुझे चाहने लगा था। वह जीत लेने के अदाज़ से मुझे देखता था। पर मैं उससे मुकाबला करने में असमर्थ थी। मुझे लगने लगा था कि अगर वह दस साल पहले मुझसे मिलता तो मैं आज कुँआरी न रहती। अकेली न होती। उसके तर्क व्यावहारिक थे जिन्हें काटने की जुर्रत नहीं होती। दुनिया से दूर अँधेरे में मिलने की उसकी आदत न थी। वह सबके सामने उजाले में खड़ा होने का हामी था। लेकिन मुझे अल्ताफ मियाँ ने अँधेरों का आदी बना दिया था।

लेकिन अब वही करना होगा जो ख़ान का आदर्श है। अम्मी तो बोलेंगी क्या, सलमा सहेली जैसी हैं और अब्बा क्या ख़ाक रोकेंगे अब। उस रात के बाद एक बार भी सामने नहीं पड़े और एक नेक इरादा लेकर जब मैं स्कूल में दाख़िल हुई तो जैसे सब-कुछ रंगीन था।

प्रधानाध्यापिका के कार्यालय की घंटी घनघनायी। चपरासी आया—'फरमायें!'

'खान साहब को भेजो।'

चपरासी ने जो सूचना दी तो ख़ान साहब चौंके। आज उन्होंने क्लास नहीं ली थी और छात्र शोर कर रहे थे। क्या इसीलिए बुलाया है? दौलतख़ान चिक उठाकर अन्दर आये।

'आदाब! सब ठीक है मैडम!'

'तशरीफ रखियेगा।'

'जी!'

'आपका अगला पीरियड कौन सी क्लास में होगा?' टाइम-टेबुल चार्ट पर हैड मिस्ट्रेस की नजरें दौड़ गयीं 'अच्छा तो वेकेण्ट है। तब ठीक, बैठिये भी।'

खान के बैठते ही जुबेदा ने दो कप चाय लाने का आर्डर भिजवा दिया और पूछने लगी, 'घर से खत आया?'

'इन दिनों तो नहीं!' बुदबुदाकर ख़ान सोचने लगा क्या कोई ख़त आया है?...और वह हैड के हाथ लग गया है? क्यों पूछ रही है? अम्मी के पिछले ख़त में रिश्ते की बात लिखी थी। पोस्टकार्ड ही तो था...वैसे उसने तो मना लिख दिया था। दरअसल शहबाज हाजी की बेटी उसे पसंद ना थी। अब कोई और लड़की देखकर अम्मी ने ख़त लिख दिया हो।

'खाना होस्टल में खाते हो?'

'यस मैडम! अब अलग से नया मकान देख रहा हूँ। खुद बनाकर खाने का इरादा है। होस्टल का खाना रास नहीं आता। पेट खराब रहता है।'

'खुद क्यों? शादी क्यों नहीं कर लेते।'

'अभी! जल्दी क्या है।'

'जल्दी? फिर ज्यादा उम्र हो गयी तो मुश्किल ना होगी।' कहकर हैड ने सामने फैले कागज पर दृष्टि डाली। दौलतख़ान सरकारी जन्मतिथि के हिसाब से तीस साल से ऊपर हो रहा था।

'बोलो?'

जी नहीं। तीस-पैंतीस से पहले की उम्र समझने, अनुभव करने की होती है।'

'क्या सच!' जुबेदा को जैसे सकून-सा मिला। क्या उसकी अपनी पैंतीस साला उम्र ज्यादा नहीं? कम से कम इन साहब की नजर में तो हरगिज ज्यादा नहीं। वह खुश हो गयी। 'आपको नया मकान चाहिए तो मैं मदद कर सकती हूँ। मेरी एक सहेली का मकान खाली हुआ है। शाम को आओ देखने चलेंगे। ठीक है न?'

'ठीक है मैडम!' ख़ान ने गर्दन हिलायी थी।

'इमाम चौक, खुशहाल बाग में इन्तजार करूँगी' शाम पाँच बजे।'

मैं बेहद खुश थी। खुशहाल बाग में शाम से पहले ही जा बैठी। मैंने आज सादे ढंग से अपने आपको सँवारा था। उत्साह, उमग व ललक से जाहिर था मैं किसी नवयौवना से कम नही। तितलियों के खेल देख रही थी कि दौलत आ गये। और झेंप गयी मैं। उफ!

इधर उधर की बातों के बाद मैंने अपने मन की कह दी। वैसे भी सीधी स्पष्ट बात दौलत को पसंद थी। 'निकाह' 'का प्रस्ताव सुनकर वह चौंक गया। शायद ही यह उम्मीद उन्हे रही होगी। वे चौंके। कुछ सोचने के बाद सिर उठाकर मेरी आँखो मे देखने लगे। मैं खुद डगमगायी। क्या मेरे चेहरे पर उतर आयी 'प्रौढ़ता' को वह नही पढ़ने लगे।

'जुबेदा ! आपका ऊँचा खानदान है। इसका सिलसिला खास अरब के खलीफाओ से मिलता है। आप और सोच ले। मैं भी···सोच लूं।'

खान का मुझे 'जुबेदा' कहना तो मादक था मगर आगे की बात की तल्खी का सैलाब मेरे अरमानो को ले डूबा। मुझे न जाने क्यो गुस्सा चढ आया। तुनककर उठी और पैर पटकती हुई चल दी। एक बार भी पीछे न देखा। खान भी खुदा का बन्दा ऐसा निकला कि उसने भी पुकारने की जरूरत ना समझी। मैं तिलमिला उठी।

घर पहुँचकर मैंने अपने को सँभाला और अल्ताफ़ को बुलवाया। जी हलकान हो रहा था। मेरा कमरा वैसे काफ़ी बड़ा था पर आज जैसे वह सिकुड गया था। चारो दीवारें जैसे अपने स्थान से सरककर मेरे नजदीक आ रही थी।

ऊपर छत वाला कमरा आबाद था। दोनों मायें उर्सों की रस्म के बाद लौट आयी थी और अब अब्बा से बातो मे मशगूल थी। मेरे होठ सिकुडकर दोहरे हो गये। पीछे देखा तो चाय का प्याला लिए, गर्दन झुकाये 'नेकू' खड़ी थी। उस रात वाली घटना के बाद नौकरानी मेरे सामने क्या सर उठाती जब कि अब्बा भी कतरा रहे थे।

रात के दस बज गये थे। अल्ताफ़ अभी तक न आया था। क्या बात हो गयी। मैं उठी और उसके घर जाने के लिए तैयार हुई तो 'नेकू' ने 'टोका—'खाना तैयार है।'

'अभी भूख नही। रहने दे। लौटकर खाऊँगी। अभी आयी।'

अल्ताफ़ के घर का दरवाजा बन्द था। किन्तु भीतर होने वाली बातें बाहर तक साफ सुनाई पड रही थी। शायद बाप-बेटे मे किसी बात को लेकर तकरार हो रही थी। अल्ताफ़ का बड़ा बेटा बीस साल का था और भला-बुरा समझता था। वही बाप से कह रहा था—'आप जुबेदा बहनजी के घर हमेशा क्यों जाया करते हैं ? लोग तरह-तरह की बातें बनाते है। हमारे पड़ोसी भी चर्चा करते हैं। ममी तो कुछ कहती नही पर मैं सब समझता हूँ। मेरे साथी तक मेरे साथ भद्दा

मजाक करते हैं।

'क्या ? क्या बक रहा है रे ! कमीने की जुबान खींच लूंगा।'

मेरी जुबान खींचने से काम न चलेगा पापा ! मोहल्ले-टोले वालों की जुबानें बन्द करें तो जानूं।'

'ठीक है तुम भी बको। उन गधों को भी बकने दो। मैं जा रहा हूँ देखें कौन रोकता है ?' अल्ताफ जैसे चुनौती दे रहा था।

'आप वहाँ नहीं जायेंगे पापा। अगर गये तो मैं अपना मुँह लेकर कहीं निकल जाऊँगा। मुझसे छोटाकशी बर्दाश्त नहीं होती। ऐसे में खाक पढ़ाई होती है ? दिन भर तनाव रहता है। पहले तो बच्चे थे पर अब अपने ऊपर उठने वाली उँगली का मतलब समझ में आने लगा है—'

'क्या खोट है मुझमें ? उँगली क्यों उठती हैं हम पर ?'

'आप चाहे बेदाग हो पर बहनजी···इस उम्र में बिना ब्याही बैठी हैं··· आखिर···।

'झूठ। वो पाक-दामन औरत है।' अल्ताफ़ चीख उठा।

'कोई तो कमी है पापा ! वरना क्या बात हुई कि इतनी उम्र के बावजूद कुँआरी बैठी हैं ?' अल्ताफ़ खामोश रहा। फिर बीबी से कहा, 'देख लिया लाड़ले को ? यही तमीज़ सिखाई है ? रोकती नहीं ? गट-गट सुन रही है तमाशबीन की तरह।'

'ममी हमें नहीं रोक सकती पापा ! इसे तो वो बहनजी सलवार कुरते का कपड़ा दिलवाती है ताकि जुबान न खोलें। ममी ने आपको रोका-टोका नहीं, आपके रहते हुए हम बच्चों को यतीम मानकर वो बहनजी कभी कपड़े, कभी किताबें तो कभी हमारी फीस देती रही···क्यों ?'

यह 'क्यों' इतना तेज और कर्कश था कि अल्ताफ भयभीत हो उठा। तुरन्त नरम पड़कर फुसफुसाया, 'मेरे उस पर एहसान हैं। क्या हुआ जो कभी कुछ दे दिया। उसके पास बहुत पैसा है शायद कभी हमारे काम आये। क्या मैं बेवकूफ हूँ जो बिला वजह बदनामी मोल ले रहा हूँ। मैं वहाँ मतलब से बैठता हूँ।'

'उफ ! यह तो और भी बुरा है। आप उसे ठग रहे हैं···।'

मैं वहाँ से बौखलाकर भागी। आँखों पर पड़ा परदा एक झटके से दूर हो गया—'तो लोगों के दिलों में यह जगह है मेरे लिए !' आसमान फट पड़ा।

जिन्दगी में पहली बार अपने ही घर का दरवाजा ढूँढ़ने में दिक्कत हुई। मैं बदहवास हुई देख रही थी कि 'नेकू' बोली, 'बाहर क्यों खड़ी हैं। अन्दर खान साहब इन्तजार कर रहे हैं।'

कमाल है कमबख्त यह भी मज़ाक करती है। अन्दर आयी तो देखा सच ही ख़ान बैठा था। उसके चेहरे पर वही गंभीर मुस्कान और भविष्य की मधुर कल्पना

चमक रही थी।

'कहिए जनाब, इस वक्त ?' मैंने अपनी बदहवासी छिपाते हुए पूछा।

'नये घर की तलाश मे आया हूँ। शायद यही है वह घर।' और एक पुर्जा आगे बढा दिया। मैंने 'नेकू' की तरफ देखा तो वह फौरन खिसक गयी। इत्र में बसे उस नन्हें कागज पर लिखा था—'आपको मैं तहेदिल से कुबूल करता हूँ। लेकिन एक वादा उसके बाद ही 'निकाह' के लिए रजामद हो सकूँगा'''।

दिल-दिमाग में आँधी-सी उठी। भरे-भरे बादल उमडे और सतप्त सूखी हृदय-घाटी में ऐसी जोरदार बारिश पड़ी कि खुशियों के अकुर फूट पडे। 'खान, आपकी सभी शर्तें मजूर मगर खुदा के लिए कुछ कीजिये, वरना जालिम दुनिया मेरी सांसें तक ठग ले जायेगी'''मैं तो तुम्हारे हाथों खुद को हार बैठी हूँ'''कहो वादा भी किये देती हूँ।

'नही जुबेदा नही''' ऐसी कोई बात नही।

'तो फिर ?' मैं रो पड़ी।

'बस एक वादा कि ऊँचे-नीचे खानदान और जाति-बिरादरी का जिक्र कभी ना करोगी।'

'ओह, यह बात और इतना भर वादा।'

'ऊँच नीच का जहर मामूली नही। क्या अब तक समझ मे नही आया ?'

'आ गया पर छोड़ो। क्या मैं अपने वालदैन से अपना इरादा बयान कर दूं ?'

'जल्दी क्या है। हम बच्चे नही जो हमारे लिए दूसरे फैसले करें'''पहले खाने की सोचो भूख लगी है। मैं आज अपने नये घर मे ही खाना खाऊँगा।' खान झूम उठा।

'हम साथ-साथ खायें।' जुबेदा ने आँखे पोछ ली और खिल गयी। दौलतखान भी खुलकर हँसा। उसने अपनी अँगूठी उतारकर नेकू की झोली मे डाल दी। अब लगाओ खाना।

छत वाले कमरे में इस खबर मे दूसरे दिन हलचल हुई। पर बेटी की जिन्दगी में झांकने की अब बाप में ताकत कहाँ थी ?

कहाँ शुरू कहाँ खत्म

मोहनलाल सूत्रधार

कोसों में फैला वीरान रेगिस्तान। छोटे-मोटे टीबों के भँवर-जाल में इक्के-दुक्के पेड़-पौधे। आक और फोग के हरे पत्ते, मरुस्थल में पड़ने वाली भयंकर शीत से जलकर बालू में विलीन होने की तैयारी में हैं। नौ-दस वर्ष का एक बालक नंगे पाँव भागा जा रहा है। तन ढकने को मात्र एक कमीज और घुटनों तक लम्बा जाँघिया।

न तो कुछ पीछे छूटा है, और ना ही कुछ आगे मिलने वाला। न जाने कौन-सा भय उसे पीछे धकेल रहा है, और कौन-सी आशा उसे आगे खींच रही है। वह स्वयं इससे पूर्णतया अनभिज्ञ है। फिर भी वह अनवरत आगे बढ़ रहा है।

सूर्यास्त होने को है। रेगिस्तान के उन गोरे धोरों ने घनी शीत को अपने ऊपर छितरा जाने की अनुमति दे दी है। दूर-दूर तक किसी जीवधारी का नामोनिशान नजर नहीं आ रहा। फोग की नंगी डालियाँ आने वाली सर्द हवा के भय से सिकुड़ने लगी है, पर उस भोले, निरीह बालक को इन सब का कोई भान नहीं है। वह तो इस समय केवल भागना जानता है और धीमे पड़ते कदमों से भागा जा रहा है।

उसकी सुधि लेने वाली तो लगभग एक बरस पहले ही इस भँवर-जाल में लीन हो चुकी है, और उसके जन्मदाता के बारे में तो, उसकी माँ स्वयं नहीं जानती थी। हाँ, कभी-कभी वह इतना सा इशारा अवश्य कर देती थी कि होगा कोई इन्हीं में से एक।

कौन है रे ? कहाँ जा रहा है ? सहसा ये प्रश्न सुनकर उसके पाँव ठिठक गये।

पूछने वाला पास आ गया। घुटनों तक लम्बा चोला, भूरी तहमद, कानों में प्लास्टिक के बड़े-बड़े कुंडल, लम्बे-लम्बे बाल, बगल में लटकी हुई झोली। उसे देखकर उसका भयभीत होना स्वाभाविक था, परन्तु यथाशक्ति साहस जुटाकर उसने उत्तर दिया।

'हाजरिया।'

पूछने वाले ने अपनी बड़ी-बड़ी गोलमटोल आँखों को उसके चेहरे पर केन्द्रित कर घूरा और बोला।

'कौन हाजरिया ? क्या नाम है तेरा ?'

'नाम हाजरिया। काम हाजरिया।' बालक ने सहज स्वर में उत्तर दिया।

'इधर कहाँ जायेगा ? क्या काम करता है ?'

'हाकम जी का हाजरिया हूँ। हाकम जी की रेवड़ चराता हूँ।' परन्तु पहले प्रश्न का उत्तर देने में वह पूर्णतया असमर्थ था, कि वह कहाँ जा रहा है, अतः उसने अपनी नजरें झुका ली।

जोगी बाबा को समझते देर न लगी! *उसने जग जाना है—खूब डोला है* वहाँ, हर जात-पाँत की रग-रग को जानता है। हाकम जी का हाजरिया, याने उसका पीढ़ीगत नौकर। हाकम जी की घरेलू दासी का जना। उसने हाथ में पकड़े हुए चिमटे को खड़काते हुए हाजरिया को साथ चलने का इशारा किया। खाई से निकलकर खड्ड में गिरा, अगहाय हाजरिया जोगी के साथ चल पड़ा।

जोगी केरनाथ साठ पार कर चुका है। उसके कोई सन्तान नहीं है। इन दिनों अपने भाई-टोने के साथ थोड़ी ही दूरी पर डेरा लगाकर रहता है। कुछ दिनों बाद वे लोग अपना डेरा कहीं अन्यत्र ले जाएँगे। इसी तरह घूमते-घूमते वे अपनी शेष जीवन-यात्रा पूरी करेंगे। इस घुमक्कड़ जाति का यही नियम है।

जोगी केरनाथ ने सोचा कि लड़का कष्टों से घिरकर भाग आया है, न जाने कहाँ रहेगा। छल भरे इस जगत में इसे कहाँ सुख-चैन मिलेगा, यहाँ तो बस दुख ही दुख है। इसे कहीं आश्रय नहीं मिला, तो इन घोरों में तड़प-तड़पकर मर जायेगा। अपने पास रहेगा तो ठीक, नहीं तो वापस सौंप देंगे।

डेरा पास आ गया। केरनाथ एक तम्बू में घुस गया। उसने हाजरिया को *अन्दर आने का इशारा किया।* बाहर खड़े बालक ने जोगियों के डेरे पर नजर घुमाई। सात-आठ तम्बू लगे हैं, कहीं फटे हाल बच्चे खेल रहे हैं, कहीं गधे बँधे हैं तो कहीं बकरियाँ। उसे यह विश्वास होने लगा कि, ये लोग हैं तो जोगी ही। *उसका आत्मविश्वास लौटने लगा, वह इस घुमक्कड़ जाति से पूर्व परिचित है।*

तम्बू के अन्दर आते ही उसने सरसरी नजर से डेरे का मुआयना किया। डेरे में बैठी बुढ़िया शायद जोगी बाबा की पत्नी है। डेरा भी साफ है, हाजरिया के *मस्तिष्क में एक विचार उत्पन्न हुआ। हैं तो ये जोगी,* पर इनका रहन-सहन जोगियों से बेहतर है।

केरनाथ ने रोटियाँ निकालकर झोली को एक तरफ रख दिया। इस बीच *बुढ़िया, बकरी का दूध निकाल लाई। तीन पत्थरों से बने अस्थायी चूल्हे पर रख*-कर गरम करने लगी। बूढ़ा जोगी चिलम पीकर धुआँ उगल रहा था। हाजरिया

अधर मे लटके भविष्य पर नजरें टिकाकर विचारमग्न हो गया।

अंधेरा घिर आया था। बाहर आकाश मे तारे टिमटिमाने लगे। दिन भर के थके-मांदे हाजरिया को अब भूख-प्यास का अहसास हुआ तो उसके सामने अपनी मृत मां का चेहरा उभर आया। अतीत बीतकर, वर्तमान पटल पर आ गया। रेवड की भेड-बकरियाँ, रेवड का बाड़ा, टूटी हुई खटोली, फटे हुए, लीर-चीर तीन गूदड़े और अन्त मे सावधानी रखने की हिदायत देता हुआ, हाकमसिंह का निर्दय रूप।

रोटियों के टुकडे और दूध का कटोरा सामने रख, जब बुढिया ने उसे खाने को कहा, तो अचानक उसकी तन्द्रा टूटी। उसने देखा बूढ़ा बाबा भी खा रहा है। एक बार तो उसे लगा कि क्या वह जोगी के घर का खायेगा, पर दूसरे ही क्षण उसे विचार आया, कि आज से पहले वह भी जोगी ही तो था। दिन भर रेवड के पीछे भटकना, रात मे बाडे मे पड़े रहना, टूटी खटोली, लीर-चीर गूदड़े, वही रूखे-सूखे टुकडे, क्या जोगियो से बेहतर थे ? उसने झट से कटोरा उठाया और खाने लगा।

'तेरा बाप क्या करता है रे ?'

'बाप नही है।'

'और मां ?'

'मां मर गयी, वो एक बरस पहले।'

'तो तू किसके साथ रहता था ?'

'मेरी मां हाकम जी के यहां रहती थी, काम करती थी, हमे वही रोटी, कपड़ा मिलता था, और मैं मां के साथ रहता था।'

'अच्छा'''। तो तू हाकम जी की गोली का बेटा है।' बुढिया मन ही मन बुदबुदाई। उसे उत्तर मिल गया था।

बुढिया के पूछने पर हाजरिया ने बताया कि मां उसको बहुत लाड-प्यार करती थी तथा उसे पढने भी भेजती थी। वह दिन भर हाकम जी के घर काम करती थी, फिर भी हमे सिर्फ दो रोटी खाने को मिलती। मेरी मां भूखी रहकर भी मुझे खाने को देती थी। मेरी मां कहां जाती क्योकि मेरा बाप तो था नही। इस तरह पिसते-पिसते वह बीमार हो गयी और कुछ ही दिन बाद चल बसी। मां के काम का सारा बोझ मुझ पर आ पड़ा। दिन भर रेवड चराना, रात मे पानी भरना। काम मे भूल हो जाये तो जूते पड़ते। मैंने सोचा इस तरह तो मैं भी जल्दी ही अपनी मां के पास पहुंच जाऊंगा। आप बीती सुनाते-सुनाते ही आंखो से पानी छलक पड़ा। घुटनो पर सिर रखकर वह सुबकने लगा।

जोगिन ने उसे ढाढस दिया। उस चर्चा को समाप्त कर, उसे दो गूदड़ दिये। हाजरिया वही जोगी बाबा की बगल मे लुढ़क गया।

न जाने इन लोगों की कितनी पीढ़ियों ने इन राजवंशों की चाकरी में तिल-तिल गलकर दम तोड़ दिया होगा। फिर भी आज, इस संसार में इनका कुछ भी नहीं है। हालात से विवश होकर ही, शायद इसके सुकोमल हृदय में विद्रोह का भाव, ज्वार की तरह उठा और उस नारकीय जीवन से छूटने के लिए ही आज यह आशा के नन्हे-नन्हे पंख फड़फड़ाकर उड़ चला। हाजरिया के ललाट पर खिंची आड़ी-तिरछी रेखाओं पर अँगुलियाँ फिराते हुए, उसने अनुमान लगाया कि यह बालक अवश्य किसी स्वाभिमानी की सन्तान है। इसे तो किसी भी कीमत पर वापस नहीं सौंपेंगे, इसे तो हम अपना बनाएँगे। मालिक ने इसे हमारी जीवन-यात्रा की अन्तिम अवस्था में सहारा बनने के लिए भेजा है। अपने संकल्प को निश्चित कर बुढ़िया भी उनकी बगल में सो गयी।

जोगी बाबा और जोगिन ने उसे बहला-फुसलाकर साथ रहने को राजी कर लिया। हाजरिया भी कहाँ जाता, आखिर दस बरस का ही तो था। बाहरी संसार से अनभिज्ञ हाजरिया को केरनाथ ने दुनियादारी का भय दिखाया, तो जोगिन ने उसे जी भरकर प्रेम दिया। कुछ ही दिनों में वे एक ही परिवार के सदस्यों के रूप में अपना भविष्य सँजोने में जुट गये।

समय अपनी रफ्तार से चलता रहा। जोगियों के डेरे जगह-जगह घूमते रहे। हाजरिया अब केरनाथ के पुत्र के रूप में पहचाना जाने लगा। उसने जोगियों के रहन-सहन, रीति-रिवाज, पुश्तैनी धंधे को पूरी तरह अंगीकार कर लिया था। अब कोई नहीं कह सकता कि वह जन्म से जोगी नहीं है।

सत्रहवाँ बरस पूरा करते-करते केरनाथ ने उसका सम्बन्ध अपने एक रिश्तेदार की कन्या से कर दिया। जब वह विवाह के लायक हो जायेगा, तो उसका विवाह जोगियों की रस्म के अनुसार हो जाएगा, इसी विश्वास के सहारे जी रहा केरनाथ इस संसार से एक दिन विदा हो गया। बुढ़िया भी अब कृशकाय हो चुकी है। अधिक समय तक नहीं रहेगी। इसी कारण हाजरिया यथाशक्ति उसकी सेवा कर कर्ज उतार देना चाहता है।

वक्त बदला। सरकार की ओर से घुमक्कड़ जातियों के लिए स्थाई आवास की योजनाएँ बनीं। घुमक्कड़ लोग धीरे-धीरे स्थायी रूप से बसने लगे। हाजरिया भी इनमें से एक था। उसे भी एक गाँव में बसने के लिए एवं कृषि के लिए भूमि प्राप्त हो गयी। कच्चा मकान बनाकर वह भी अपने छोटे से परिवार सहित बस गया।

उसका गृहस्थ जीवन सुख से व्यतीत होने लगा। पति-पत्नी दो ही, दोनों मजदूरी-मेहनत करते। झाड़-फूंक में सिद्धहस्त हाजरिया गाँव वालों का चहेता बन गया। कुछ हम उम्र लोगों के साथ-साथ उसका मेल-जोल गाँव के ठाकुर के इकलौते लड़के, कुँवर साब से भी बढ़ने लगा।

कुँवर साब कुछ समय पहले ही शहर से पढ़-लिखकर लौटा है। भरा-पूरा परिवार, खेत-खलिहान, ट्रैक्टर, गाय, भैंस सभी कुछ तो है। पढ़ने-लिखने के बाद वापस आकर गाँव वालों के सुख-दुख का साथी बन गया। हृष्ट-पुष्ट जवान है, मदद के लिए सदैव तैयार, सज्जनता का बर्ताव, गुणों की खान है।

धीरे-धीरे हाजरिया की मित्रता भी कुँवर साब से इस कदर बढ़ गयी कि वह देर रात तक उनके पास बैठा रहता। उनसे दुनियादारी की बातें सीखता, पढ़ना-लिखना सीखता, उनका मनोरंजन करता। कुँवर साब भी उसकी हर जरूरत में मदद करते, इसी से वह भी अपने आपको कुँवर साब के संरक्षण में सुरक्षित कर, हर तरह से वहाँ सुखी था।

परन्तु सज्जन और दुर्जन एक जोड़े के रूप में हर जगह मौजूद रहते हैं। आज कुँवर साब कहीं अन्यत्र चले गये थे। इसलिए वह गाँव के महाजन के यहाँ रात में मेहमानों की हाजरी देने चला गया। काफी रात गये वह अपने घर लौटा। गाँव के किनारे बनी उसकी झोपड़ी में खाट पर लेटी उसकी पत्नी उसे देखते ही रो पड़ी। उसने बताया कि मेघीया और फूसीया ने आज तो आबरू ही लूट ली होती। बाबा के इस बड़े चिमटे के रहते ही आज लाज बची है।

हाजरिया ने जन्म ही, इस संसार भर के दर्द सहने के लिए ही लिया था। इस ताजे घाव के दर्द को सहने के लिए न तो वह मानसिक और न ही शारीरिक तौर से तैयार था। इन दर्दों से छुटकारा पाने के लिए वह इस भँवर-जाल में भटकता रहा। पहले जन्म स्थान छोड़ा, फिर बिरादरी और अब न जाने क्या छोड़ना पड़ेगा। खेती के लिए सरकार की तरफ से मिले जमीन के टुकड़े को लेकर पास गाँव के जमींदार और उसके लठैत उससे बैर बाँधे थे।

कुँवर साब के बल पर वह अपने पाँवों पर खड़ा हुआ था। लेकिन आज उसे फिर घुटनों पर झुका दिया गया था। उसने महसूस किया कि उसे जीने के लिए स्वयं खड़ा होना होगा, अन्यथा आदमी के शरीर में घुसे ये दुर्दान्त भेड़िये मेरे जैसों को साबुत निगल जाएँगे।

मन का निश्चय दृढ़ कर उसने अपना सामान दोनों गधों पर लादा। दोपहर में ही वह पत्नी सहित उस जगह की तलाश में चल पड़ा जहाँ वह स्वाभिमान की जिन्दगी जीने के लिए स्वतः खड़ा हो सके।

सुबह दिन चढ़े जब कुँवर साब लौटे तो उन्हें ज्ञात हुआ कि हाजरिया चला गया। उनके हृदय को चोट पहुँची। उनका हृदय घिनौने लोगों के प्रति घृणा से भर गया। वे जिस तरह आये उसी तरह सरपट घोड़ा दौड़ाते हुए हाजरिया की खोज में निकल गये।

सूर्यास्त तक पीछा करने के उपरांत कुँवर साब ने एक ऊँचे टीले पर चढ़कर चारों तरफ देखा, दूर-दूर तक किसी जीवधारी की झलक तक नजर नहीं आ रही

थी। शाम घिरने लगी थी। टूटे कदमों से लौट रहे निराश कुँवर साब ने धरती और गगन की सधि तक नजर फेंककर पुन. देखा कि रेगिस्तानी टीलो के इस भँवर-जाल मे दो घुमक्कड़ो के पाँवो के निशानो की कतारें कही दूर तक निकल गयी है।

लगाम खिचते ही घोड़ा पुनः लौट पड़ा। गांव के किनारे बनी झोपडी के निकट पहुँचते ही उनके कदम स्वतः रुक गये।

वीरान झोंपडी, आबादी से बरबादी की कहानी झीगुरो के मुख से कह रही थी। दीर्घ निःश्वास के साथ ही कुँवर साब का करुण हृदय मानवीय प्रेम के लिए उमड़ पड़ा। ●

पहेली

□

श्यामसुन्दर भारती

उस दिन, उसके यहाँ से रवाना हुआ, तो मन में एक अजीब सी उथल-पुथल मची हुई थी। जीवन में पहली बार मुझे ऐसा लग रहा था, जैसे अचानक मेरे बड़े-बड़े पंख निकल आये हो और मैं लहराता हुआ हवा मे उड़ रहा हूँ। मन मे कल्पनाओ के इतने महल अचानक यूं निर्मित हो गये थे, जैसे समन्दर में एकाएक कई टापू एक साथ उभर आये हों।

उस दिन, पहली दफा बहुत शिद्दत के साथ मुझे अनुभव हुआ कि यह दुनिया सचमुच बहुत-बहुत सुन्दर है और यह जिन्दगी एक सौगात है और इसे सपना कहने वाले या तो नींद में है या नशे में···कब घर पहुँच गया, मुझे नही मालूम।

दरअसल, उससे मेरी मुलाकात कॉलेज के दिनो मे हुई थी। हम दोनो एक ही क्लास मे पढ़ते थे। क्लास मे वह मुझसे आगे बैठती थी और मैं ऐन उसकी पिछली सीट पर। इस तरह बहुत करीब से देखता रहा हूँ, मैं उसे। मुझे आज भी अच्छी तरह याद है उसका वह साँवला-सलोना रंग, वह गदराया बदन और वे मोटी-मोटी आँखें। उसके बाल तो इतने लम्बे थे कि वह कुर्सी पर बैठी होती तो उसकी केश राशि फर्श को छूने लगती।

नही, ऐसा तो बिलकुल नही था कि वह किसी से बात ही नही करती थी। भले ही कुछ कम ही सही, लेकिन अपने साथ पढने वालों के साथ वह बाते करती थी और बराबर करती थी। लेकिन इसके बावजूद वह रिजर्व नेचर की थी। उसमें रुचि लेने और हँसकर बात करने वालो के साथ वह रुखाई, बल्कि बहुत ही बेरुखी, से पेश आती थी। शायद यही वजह थी कि लगभग आधा सत्र बीत जाने के बाद भी वह किसी को मित्र नही बना पायी थी या कोई उसे मित्र नही बना पाया था।

हाँ, यह भी सच है कि मैं उसमे रुचि लेने लगा था। दरअसल, निकटता मोह भी तो पैदा करती है और इस मोह की खुशबू जब उसकी ओर से महकने लगी तो मेरे अनुभव के कागज पर कई तरह के रंग उभरने लगे। यहाँ तक कि मै उसके

रूखेपन की बात भी एकदम बिसर गया।

हुआ यूँ कि उस दिन मुझे समय का बिलकुल खयाल नही रहा और मैं समय से बहुत पहले कॉलेज पहुँच गया। क्लास मे दाखिल हुआ तो देखा कि वह आगे अकेली बैठी थी और कुछ गुनगुना रही थी।

'अरे, आज आप भी जल्दी आ गयी ?' मैंने अचरज और हर्ष के साथ पूछा था।

'हाँ···? वह अपने होंठो पर मंद हास बिखेरती-सी बोली—'आज तो समय का कुछ ध्यान ही नही रहा।'

'मेरे साथ भी ऐसा ही हुआ। मैने हँसते हुए कहा—'घर से निकला तो धुन मे चलता ही चला आया।'

'ठीक ही तो किया।' उसने कहा और हँस पडी।

'हाँ···' अचानक मेरे मुँह से निकल गया। इसके अलावा एकाएक मुझसे कुछ और कहते न बना। सच बात तो यह थी कि उसके मुँह से निकली 'ठीक ही किया' वाली बात को मैं समझ ही नही पाया था। मैंने विस्मय से आँखे फाड़कर उसकी ओर देखा तो वह एक बार फिर हँस पड़ी और खुश-खुश मूड में, लगभग चहकती हुई बोली—

'हाँ, हाँ, ठीक ही तो किया। मैं यहाँ अकेली 'बोर' हो रही थी। आप आ गये अच्छा ही तो किया।'

उसकी इस बेतकल्लुफी से मैं अचरज मे पड़ गया और एक अजीब-सी उलझन अनुभव करने लगा। मैंने सोचा, आज अचानक इसमे यह परिवर्तन कैसे हो आया। वास्तविकता तो यह थी कि मैंने इससे पहले कभी उसे इतने अच्छे मूड मे नही देखा था। इससे पहले कभी वह इतनी उन्मुक्तता से हँसी हो, मुझे याद नही। सच तो यह था कि उसके साथ इस तरह की बातचीत का यह मेरा पहला ही मौका था और उसके व्यवहार के रूखेपन से एक मैं ही नही, सभी परिचित थे। हालांकि उसके प्रति मन की गहराई मे कही चोर छुपा हुआ था, सशंकित भी था कि कब उसका मूड बदल जाये और किस वक्त वह ना जाने क्या कह दे। यही थी मेरी शंका, जो उसके प्रति मेरी कोमलता पर भारी पड़ रही थी और बार-बार किसी गतिरोधक का-सा आभास दिये जा रही थी।

लेकिन तत्काल ही मुझे लगा कि मेरी सारी शंकाएँ निर्मूल और निराधार हैं।···ऐसा कुछ भी तो नही हुआ। सचमुच···ऐसा कुछ भी तो नही हुआ···कुछ भी तो नही।···वह कुछ देर तो मद हास बिखेरती रही व फिर बोली—

'अब क्या मूड है ?' कहते हुए उसने मेरी आँखो मे आँखें डालकर यूँ देखा, जैसे अन्दर गहराई तक झांक रही हो। उसे यूँ देखने से मैं बहुत भीतर तक कँपकँपा गया।

'मेरा मतलब है—' वह उसी उन्मुक्तता के साथ बोली—'यहीं बैठे रहने का मूड है या कुछ चाय-वाय पिलाने का भी इरादा है।'

'ओह श्योर—।' मैंने मन में उठे सारे झंझावातों को एक ओर धकेलते हुए कहा—'चाय तो हो ही जानी चाहिए।'

कैंटीन अभी लगभग खाली पड़ी थी और उसकी सफाई की जा रही थी, लिहाजा चाय का आर्डर देकर हम बाहर लॉन में ही बैठ गये।

उसने अपना हैंड बैग टेबुल पर रख दिया था और होंठों ही होंठों में कुछ बोलती सी अपनी अँगुलियों से खेलने लगी थी। वह उड़ती नजर से कभी मेरी ओर देख लेती तो कभी कैंटीन मैनेजर की ओर, जो सामने बैठा साफ दिखाई दे रहा था और दिन चढ़ आने के बावजूद ऊँघ रहा था। मैंने सोचा कि मुझे कुछ बात करनी चाहिए, लेकिन उलझन में था कि क्या बात करूँ? किस विषय पर करूँ? कहाँ से शुरू करूँ? फिर मैं तो यह भी नहीं जानता था कि उसे किस तरह की बातों में रुचि हो सकती है। बहरहाल—फिल्मों पर बात करना मैंने ठीक समझा।

'आपने वह फिल्म देखी है?' मैंने उत्सुकता से उसकी ओर देखते हुए पूछा था।

'नहीं!' उसका सहज और संक्षिप्त उत्तर था।

'अरे! इतनी हिट हुई थी वह फिल्म तो, गोल्डन जुबली मनाई थी उसने और आपने नहीं देखी।' कहता-कहता मैं थोड़ा रुका और आँखें उसके चेहरे पर गड़ाता हुआ बोला—'क्या फिल्मों का शौक नहीं है?'

प्रत्युत्तर में उसने अपनी आँखें ऊपर उठाईं तो मैंने झेंपकर नजरें झुका लीं और टेबुल बजाने का-सा अभिनय करने लगा। वह कुछ देर खामोश रही फिर धीरे-धीरे कहने लगी—'मुझे पुरानी फिल्में और उनके गीत पसन्द हैं। जब भी कोई पुरानी फिल्म लगती है, जरूर देखती हूँ। नयी फिल्में तो बोगस होती हैं, एकदम बकवास।

'मैंने उसकी पसंद पर कोई टिप्पणी या प्रतिवाद नहीं किया। कोई बात तो शुरू हुई, मैं इतने भर से संतुष्ट था और अब चर्चा के लिए कोई नया विषय सोचने लगा था। वह भी चुप बैठी अपनी अँगुलियों से खेल रही थी और बार-बार कैंटीन के अन्दर झांक रही थी। मुझे लगा, जैसे बाहर बैठकर वह अपने आप को बहुत असहज अनुभव कर रही है। मैंने कहा—

'अन्दर बैठें?'

'नहीं।' उसने कहा और साथ ही फिर अन्दर की ओर झांका। इतने में बेयरे ने चाय लाकर रख दी।

'लीजिये।' कहते हुए मैंने अपना कप उठाया और बहुत उत्साह के साथ बोला—'क्रिकेट तो पसन्द करती होंगी?'

'ओह् फैशन ।' उसकी हँसी में व्यंग्य था ।

'मतलब ?'

'क्या स्कोर हुआ है, बस इतना भर पूछ लीजिये किसी से आप आधुनिक मान लिए जायेंगे । फिर इससे आगे चाहे आप कुछ न समझते हों ।' कहते-कहते वह क्षणिक विराम के बाद बोली —'क्यों ? सच नही है ?'

खोखली हँसी के सिवा मेरे पास इसका कोई उत्तर नही था ।—अपनी बात कहकर वह एक बार बिल्कुल चुप हो गयी थी, एकदम थिर । मैंने देखा—उसका चेहरा एकाएक कई उतार-चढ़ावों का आभास देने लगा था । अचानक उसके चेहरे पर एक सौम्य-भाव, एक गरिमा, एक विलक्षण आभा झलकने लगी और इसके साथ ही कुछ देर खामोश रहने के बाद वह धीरे से बोली—

'शरत् को पढ़ा है आपने ?'

'कुछ-कुछ ?'

'नारी मन की गहराई को जितनी शरत बाबू छू पाये है, जहाँ वे पहुँचते हैं वहाँ तक कोई शायद ही पहुँचा होगा । अपने पात्रो को जितना सजीदगी मे उन्होने जिया है, वह सिर्फ उनके बस की बात ही हो सकती थी ।'

'हाँ हूँ हाँ···?' मै इतना भर कह पाया ।

इसके साथ ही—वह अपने आप में ही गुम-सी हो गयी···फिर साहित्य की बारीकियो का बहुत ही सूक्ष्म वर्णन करने लगी । शात, सयत और नपे-तुले शब्द थे उसके पास और आवाज मे एक जादुई आकर्षण । मुझे महसूस हुआ कि उसकी तुलना मे मेरा साहित्य-ज्ञान कुछ भी नही । मैं उसके सामने मूक बना बैठा उसे यूँ देख-सुन रहा था, जैसे कोई उजड्ड गँवार किसी गुरु-गभीर व्यक्तित्व को विस्मय से देख रहा हो । उस दिन मुझे लगा कि प्रत्येक व्यक्ति अपने आप मे एक रहस्यमय समन्दर समेटे है, जिसकी अतल गहराइयो से कोई एक लहर कभी-कभार उठती है, और एक हल्की सी हलचल का आभास हमें दे जाती है। उस समय—उसके होंठो से स्फुरित शब्दो से मुझे ऐसा आभास हो रहा था, जैसे श्यामल घटाओं के बीच से कोई बिजली चमक-चमककर एक उजास बरसा रही है । उसके एक तार मे गुथे शब्दो के साथ मेरी एकाग्रता इस कदर एकमेक हो गयी कि कब चाय खत्म हुई, मुझे इसका खयाल ही नही रहा । बेयरे ने खट्ट की आवाज के साथ टेबुल पर बिल की प्लेट लाकर रखी, तो मेरा सम्मोहन टूटा और मैं एकदम चौका । उस समय—मुझे ऐसा लगा, जैसे मैं किसी रहस्य-लोक की अनन्त गहराई मे उतरा हुआ था और खट्ट की आवाज के साथ एक ही झटके मे सतह पर आ गया । पर बहुत देर तक सहज नही हो पाया । वह बिल हाथ मे लेकर देखने लगी थी मैं झट मे बोला—

'आप रहने दें···पेमेंट मैं किये देते हूँ ।' और इसके साथ ही मैंने जेब में हाथ

डाला।

'नही।' वह बहुत ही निर्लेप भाव से बोली—'पेमेंट तो मुझे ही करना है।' कहती हुई अपना पर्स खोलने लगी।

'बिलकुल नही ?' मैंने पैसे प्लेट मे बिल पर रखते हुए कहा—'ऐसा कैसे हो सकता है। पेमेंट तो मैं ही करूँगा।'

'क्यो करेंगे आप ही ?' वह मेरी ओर घूर रही थी और उसके चेहरे पर एकाएक कठोरता आ गयी थी।

'मैं···मैं···।' अचानक मुझसे कुछ कहते नही बना।

'बहुत ही शौक है, तो कीजिये आप अपना पेमेंट।' कहते हुए उसने अपने बैग से पैसे निकाले और खट्ट करते प्लेट मे पटक दिये, और एक झटके के साथ उठ खडी हुई और पर्स झुलाती हुई वहाँ से रवाना हो गयी।

उसके इस अचानक परिवर्तित व्यवहार से मैं अवाक् रह गया।

अभी-अभी साहित्य की सरस बातें करने वाली एकाएक इतनी अनघड और कठोर कैसे हो गयी, मैं नही समझ पाया। 'कीजिये आप पेमेंट' सुनकर तो मेरे चेहरे का रग ही उड गया। एक बार तो मैं हिलडुल भी नही सका और मेरे बोल हलक मे ही अटककर रह गये। मैंने देखा—बेयरा सामने खडा मुस्करा रहा था। मैंने अपने आपको बहुत अपमानित और असामान्य अनुभव किया था उस दम। मुझे लगा, जैसे मुझे बहुत ऊँचे पहाड़ से अचानक धक्का दे दिया गया हो और मैं लौटता हुआ नीचे आ गिरा हूँ—धम्म !

उस रोज—मैं फिर क्लास मे नही जा सका था और दिल-दिमाग पर एक ना मालूम सा बोझ लिए घर जाकर खाट पर पडा रहा था।

उसके बाद—लगभग तीन-चार दिन तक वह कॉलेज ही नही आयी। मैंने भी उस दिन के बाद उसके पीछे वाली सीट पर बैठना छोड़ दिया था और क्लास मे सबसे पीछे बैठने लगा था। तीन-चार दिनो बाद जब वह आयी तो अपनी सीट पर बैठने से पहले उसने मेरी सीट पर नजर डाली। मुझे अपनी सीट के बजाय पीछे बैठा देखा तो एक बार मेरे सामने देखकर मुस्कराई और फिर अपनी सीट पर बैठ गयी। उसकी मुस्कान से मैंने अपने आपको बहुत असहज अनुभव किया और एक बार अन्दर तक हिल सा गया। उसके बाद बहुत देर तक क्लास मे नही बैठ सका और चुपचाप रवाना हो गया।

उसके बाद प्रायः ऐसा ही होता। वह अपनी धीमी चाल से कक्षा में आती, मुझ पर नजर डालकर मुस्कराती और अपनी सीट पर बैठ जाती। हालांकि अब मैं उसे देखते ही मुँह फेर लेता, लेकिन अब भी मुझे लगता, जैसे वह मुझे देखकर मुस्करा रही है, मुस्कराती जा रही है।

यूँ—बहुत दिन बीत गये थे और मैंने उसके बारे मे सोचना लगभग छोड़

दिया था। वल्कि वक्त से अपने आप छूट-छाट गया था। कभी कभार सामना हो जाता तो मैं टाल जाता या वह टल जाती।

बहुत दिनों बाद—एक दिन की बात है, मैं लाइब्रेरी में आलमारी के पास खड़ा किताबें टटोल रहा था कि पीछे से एक मधुर आवाज उभरी—

'सुनिये !'

मैंने पलटकर देखा तो वह खड़ी थी और अपने होंठों पर वही मदहास बिखेर रही थी। उसे अपने इतने करीब देखकर मैं अन्दर तक प्रकंपित हो गया और एकाएक मुझसे कुछ भी कहते नहीं बना।

वह कुछ देर यूँ ही खड़ी रही और फिर मेरी आँखों में आँखें डालकर बोली—

'आपको जिस किताब की जरूरत है, वह मेरे पास है। आज शाम घर आकर ले जाइयेगा···' और बिना मेरे उत्तर की प्रतीक्षा किये मुड़ गयी।

मैं···मुँह उठाये खड़ा ही रह गया और उसे तब तब देखता रहा, जब तक कि वह मेरी आँखों से ओझल नहीं हो गयी।

हुआ यूँ होगा कि मैं क्लास में अपने साथी से एक किताब के बारे में बात कर रहा था कि—'यार, यह किताब आउट ऑफ प्रिन्ट है। मुझे उसकी सख्त जरूरत है। हो सके तो, कहीं से अरेंज करवाओ।' उस समय सम्भवत. वह भी क्लास में ही बैठी थी और उसने हमारी बातचीत सुन ली।

बहुत देर तक मैं वहाँ···बुत की तरह खड़ा-खड़ा सोचता रहा·· सोचता ही रहा।···लेकिन क्या ? कुछ भी तो नहीं सोच पाया। वह आयी भी और बहुत बेबाक ढंग से अधिकार भरे लहजे में किताब ले जाने के लिए कह भी गयी और मैं मुँह उठाये देखता ही रह गया। उस रोज के उसके व्यवहार के मुतल्लिक कुछ भी नहीं कह सका; और अब खड़ा-खड़ा सोच रहा था···कि उसके यहाँ जाऊँ या नहीं जाऊँ ? मन में कई संकल्प-विकल्प की लहरें डूबने-उभरने लगी—'जाओगे ? लेकिन गये और वह फिर उसी तरह रूखेपन से पेश आयी, तब ? किताब तो और कहीं से कबाड़ लेंगे। थोड़ा अक्ल से काम लो।' लेकिन तभी, 'प्रकृति-पुरुष' की मूल कमजोरी उठ खड़ी हुई और बुद्धि लड़खड़ाकर धराशाही हो गयी। नतीजन-शाम को ठीक समय पर मैं उसके घर पहुँच गया।

'ओह, आ गये आप !' उसने अविश्वास का-सा आभास देते हुए कहा और अपनी तेज नजरों से मुझे नखशिख तक टटोलने लगी।

'क्यों ? उम्मीद नहीं थी आपको···?'

'हाँ। सोच तो कुछ ऐसा ही रही थी। लेकिन आप बैठिये तो···।' कहते हुए उसने कुर्सी की तरफ इशारा किया।

उसके कमरे में काफी किताबें थी—कहूँ कि छोटी-मोटी लाइब्रेरी ही थी टेबुल पर भी बहुत-सी पत्र पत्रिकायें रखी थी, यह सब उसका अध्ययन-वृत्ति का ही परि-

चायक था।

इस समय वह अच्छे मूड में लगती थी और अपने हरे लिगाम में बहुत सुन्दर नजर आ रही थी उसकी बड़ी-बड़ी आँखों में गुलाबी डोरों की झलक थी और बातों में ललक। परन्तु उस रोज के उसके व्यवहार को मैं भूल नहीं पाया था। बैठने के बाद से लगातार चीटियाँ काटने का-सा अनुभव करने लगा था। बारह मिनट के दौरान कोई बीस बार मेरे मुँह से निकल गया होगा—'अच्छा तो अब मैं चलता हूँ।'

उसने मेरी ओर यों देखा, जैसे मेरे मन का चोर उसने पकड़ लिया हो। उसके होंठो पर रहस्यमय हँसी छितरा गयी। वह कुर्सी पर कुछ आगे तक झुक गयी और बोली—

'क्या बात है ?'

'उस रोज···।' अचानक मेरे मुँह से कैसे निकल गया, मुझे कुछ पता नहीं।

'उस रोज क्या···?' कहते हुए उसने मुझे तीखी नजरों से घूरा जैसे मेरे अन्दर तक पैठने का प्रयास कर रही हो।

'लेकिन···'उस रोज' से आगे मैं कुछ भी नहीं बोल सका।' मेरी जीभ जड़ हो गयी थी गले में खराश-सी होने लगी थी।

'खैर, छोड़ो उस रोज को···' जब उसने कहा, तब ही मैं लंबी साँस ले पाया। लेकिन···

फिर कुछ क्षण बाद कमरे में चुप्पी-सी तैरने लगी। फिर मैं अपने सर पर पर पहाड़ सा अनुभव करने लगा। फिर मेरी आँखों की पुतलियों में उस रोज का-चित्र उभरने लगा और मैं···

'कल का क्या प्रोग्राम है ?' उसने अप्रत्याशित रूप से मौन भंग किया।

'कोई खास नहीं।' मैंने संयत और नियंत्रित होते हुए कहा !

'फिर ऐसा कीजिये, कल 'आभा सिनेमा' के बाहर मिलिये···मेटनी शो देखेंगे। आयेंगे न आप ?'

'हूँ···हूँ···हाँ···।' न जाने कौन मेरे अन्दर से बोल गया।

'उस रोज—उसके यहाँ से उठकर रवाना हुआ तो मन में एक अजीब-सी उथल-पुथल मची हुई थी। धड़कनों में तेजी थी और पाँवों में एक नयी गति। उस दिन, पहली दफा जिन्दगी बहुत प्यारी खुशगवार हो गयी थी और पहली बार यह दुनिया बहुत-बहुत हसीन लगने लगी थी। उसी के विचारों में खोया-खोया कब घर पहुँच गया, मुझे नहीं मालूम।

उधर पर्दे पर फिल्म क्लाइमेक्स पर थी और इधर भी बात काफी आगे बढ़ चुकी थी। फिल्म के दौरान—तक उसका सिर मेरे कंधे पर टिका रहा था और उसकी

अँगुलियाँ मेरे हाथ की अँगुलियों से लगातार खेलती रही थी।

फिल्म देखकर निकले तो दोनों ने अपने आपको तरोताजा व प्रसन्नचित अनुभव किया था। चौराहे तक पहुँचने पर, जहाँ से उसके और मेरे घर जाने के रास्ते अलग होते थे—'कल आइयेगा !' कहते हुए उसने विदा ली थी।

दूसरे दिन—वह बहुत उदास नजर आ रही थी। उसकी आँखें लाल हो रही थी और कुछ सूजी हुई भी लग रही थी। जैसे—पूरी रात को एक पल भी सोई नही हो और सिर्फ रोती रही हो। मैंने देखा—उसके चेहरे पर मायूसी छायी हुई थी और जैसे अब भी वह अन्दर ही अन्दर सुबक रही थी। बहुत देर हो जाने पर भी, वह चुपचाप बैठी थी—मूरत की तरह। ऐसे मे, बहुत बुरा लगा मुझे मेरा वहाँ बैठना···मुझे अपने आप पर कोफ्त सी हुई कि नही आता तो ही ठीक था।

मगर अब तो आही गया था और उसके सामने—कुर्सी पर बैठा वातावरण में व्याप्त घुटन और ऊब झेल रहा था। एक-एक पल बोझिल लग रहा था, चुप्पी तो जान ही ले रही थी। मुझे लगा—जिन्दगी की बहुत सी पहेलियाँ है, जो सुलझाई नही जा सकती। लगा कि यह चुप्पी मैं अब और अधिक सहन नही कर पाऊँगा। साथ ही मन में आशका-सी उठी कि कही उस रोज की पुनरावृत्ति ना हो जाये। यो ही सशंकित मन से वातावरण मे व्याप्त त्रासद मौन को भग करने की दृष्टि से मैं बोला—

'कैसी लगी थी ?' मेरा आशय कल देखी फिल्म से था।

वह कुछ क्षण चुप रही। फिर धीरे-धीरे नजरें उठाकर उसने मेरी ओर देखा व चेहरे पर कठोरता लाती हुई बोली—

'एक दम घटिया।'

'क्या ?' मैं सहसा चौका।

'जी हाँ।'—'एकदम घटिया थी।' कहते-कहते वह रुक गयी व दो-तीन लम्बी साँसें खीचकर फिर बोली—'आपकी कल वाली हरकतें।' कहकर वह एक बार फिर चुप बैठ गयी और आँखें झुकाकर पाँव के अँगूठे से फर्श कुरेदने लगी। उसके गालो के नीचे, जबड़ो की कठोरता इस बात का आभास दे रही थी कि उसने ऊपर और नीचे की दाढ़ो को मजबूती से दबा रखा है और अन्दर कोई बात घुल रही है। स्पष्टतः यह उस रोज वाली-सी 'घटना' होने का पूर्वाभास था। यह खयाल आते ही मैं अन्दर तक काँप गया। मैंने उठने के लिए कुर्सी के नीचे लटकते हुए पाँवो को फर्श पर जमाया और कुर्सी के हत्थों पर हाथों का जोर देकर उठने का प्रयास किया ही था कि एकाएक···वह उचककर मेरे बिलकुल सामने खड़ी हो गयी···उसका ऊपर वाला होठ फडफडा रहा था व डबडबायी लाल-लाल आँखो से वह मुझे घूर रही थी। अचानक बन आयी इस परिस्थिति को मैं समझ भी नही पाया कि वह हाथों को झटकती-सी गलगले कंठ से बोलने लगी—'क्यो···क्यो

किया आपने कल वह सब···क्यों किया···' कहते-कहते उसने कमर को कुछ नीचे की ओर झुका लिया, इससे वह मेरे कुछ और निकट हो आयी थी। फिर वह रो पड़ी। रोती-रोती सहसा झपटी और मेरे दोनों कालर पकड़ कर मुझे झझोड़ती हुई चीखने लगी···'बोलो···बोलो क्यों किया आपने ऐसा···क्या अधिकार था आपको ऐसी हरकत करने का···किसने दिया आपको यह अधिकार···किसने··· होते कौन हैं आप ऐसी हरकत करने वाले···कौन···कौन होते हैं···' कहती-कहती दमे की मरीज की तरह वह बुरी तरह हाँफने लगी; बल्कि उसकी साँस पर साँस चढ़ गयी थी। हिच्च···हिच्च···हिचकियाँ आने लगी थी उसे, जैसे मिर्गी का दौरा पड़ने पर आती हैं वह हिचकियों में भी बराबर बोलती जा रही थी—'आपको··· आपको क्या मिला···क्या मुझे दुखी करके···क्या मिल गया···एक···एक खामोश कुएँ में पत्थर फेंककर आपको क्या मिल गया···क्या मिल गया···क्या।' कहते कहते उसके हाथों में मेरे कालर छूट गये। उसके होंठो पर कुछ झाग से उभर आये और वह निढाल होकर अपनी कुर्सी में डूब गयी। ●

पेपरवेट

□

महेश कुमार चतुर्वेदी

नौकरी की तलाश मे भटकता राकेश अब एकदम निराश और हताश हो चुका था। वह अन्दर से अपने आप को टूटा हुआ महसूस कर रहा था।

राकेश को एक तरफ अपनी एम०ए० डिग्री भली लगती थी, वही दूसरी ओर उसे नौकरी न मिलने पर गुस्सा भी आता था किन्तु वह क्या कर सकता था? अफसोस, कि वह एम० ए० पास होते हुए भी निरीह, बेबस एव लाचार और बेकार था।

वह पिछले तीन वर्षों से नौकरी की तलाश मे अपने कई जोडी जूते-चप्पले फाड़ चुका था। इस बीच वह दर्जनों इण्टरव्यू भी दे आया था। जब भी वह इण्टरव्यू देने जाता रिश्वत का जहरीला नाग उसके सामने आकर फुफकार उठता। बेचारे राकेश के पास ऐसी कोई पारसमणि नही थी जिससे वह रिश्वत के जहरीले नाग को वश मे कर नौकरी पा सके।

अभावों और गरीबी मे पले हुए राकेश के पास जब कोई इण्टरव्यू कॉल आता तो वह अपने इष्ट मित्रो से उधार मांगता इस आशा के साथ कि अबकी बार उसे नौकरी अवश्य मिलेगी। उधारी की राशि बढ़ती जाती किन्तु नौकरी राकेश से कोसो दूर बनी रही।

आज भी राकेश के हाथो मे इण्टरव्यू-पत्र था। अपने सभी आवश्यक कागजातो को ले वह इण्टरव्यू देने पहुँचा। इण्टरव्यू देने आए बेरोजगार युवको का जमघट देखकर एक बार फिर राकेश का विश्वास डगमगा गया था। इण्टरव्यू की पूर्व औपचारिकता पूरी हुई। राकेश का टर्न आया तो सिर्फ माता-पिता का नाम पूछकर उसे रवाना कर दिया गया। उसे यह समझ मे नही आया कि इस नौकरी से और उसके माता-पिता के नाम से क्या सबंध है। फिर भी वह सोचता हुआ बुझेमन से ऑफिस के बाहर निकला। अभी वह बोझिल कदमो से चार-पाँच कदम चला ही होगा कि इण्टरव्यू लेने वाले एक बाबू ने आवाज दी—'ए मिस्टर राकेश।'

अपने आप को सुनकर राकेश एकदम चौक उठा उसने पीछे मुड़कर देखा—

इशारों से बाबू उसे बुला रहा था। वह किसी आज्ञाकारी पुत्र की तरह शालीनता से चलता हुआ आया और बड़ी नम्रता से बोला—'क्या बात है सर ?' बाबू ने होंठो पर उंगली रखी और सी···सी···ई···ई की आवाज निकालते हुए आहिस्ता से बोला—'पांच हजार की व्यवस्था कर सकते हो तो समझो तुम्हारी नौकरी पक्की। बोलो हाँ या ना।'

पांच···हजार···राकेश मन-ही-मन बुदबुदाया और इसके साथ ही वह सोचने लगा कहाँ से लाए पांच हजार रुपये ? कौन देगा इतने रुपये उसे ? अभी वह पूरी तरह निर्णय कर भी नहीं पाया था कि बाबू ने उसकी तन्द्रा भंग की और बोला—'जल्दी बोलो, मुझे और लोगों को भी देखना है।'

राकेश अब पूरे होश में आ चुका था। उसने हाथ जोड़ते हुए कहा—'बाबूजी पांच हजार रुपये तो बहुत होते हैं मुझ गरीब पर रहम करो।'

बाबू ने तेवर बदलते हुए कहा—'नहीं हैं रुपये तो रहने दो तुम नहीं तो तुम्हारा कोई भाई अभी हामी भरेगा।'

बात बिगड़ती देख राकेश ने कहा—'बाबूजी मुझे एक-दो दिन समय दीजिए मैं वादा करता हूँ कि परसों तक पूरे पांच हजार रुपये लेकर आऊँगा।'

'ठीक है—मेरा नाम परसादीलाल है परसों तक तुम्हारा इन्तजार करूँगा।' रोबीली आवाज में बोलता हुआ बाबू तेज गति से अपने केबिन में चला गया।

अब राकेश अकेला खड़ा शून्य में ताक रहा था। पांच हजार रुपयों की कल्पना के साथ उसे ऐसा लग रहा था कि पूरी पृथ्वी घूम रही है।

इण्टरव्यू देने आये युवक चाय-नाश्तों की दुकानों के पास जमा थे। उन युवकों के सामने राकेश अपने आपको बौना समझ रहा था क्योंकि उसके पास तो चाय पीने के लिए पचास पैसे का सिक्का भी नहीं था।

विचारों में खोया हुआ, वह अनमने मन से घर आया। वह इसी उधेड़बुन में था कि पांच हजार रुपये कहाँ से लाए। राकेश गुमसुम अपने कमरे में बैठा रुपये के जुगाड़ बैठाने की सोच रहा था कि उसी वक्त कमरे में पत्नी ने प्रवेश किया। राकेश ने सारी बात अपनी पत्नी को बताई। राकेश की पत्नी ने हाथ की सोने की चूड़ियाँ उतारते हुए कहा—'आप इन्हें बेचकर रुपयों की व्यवस्था कर लीजिए कम पड़ें तो यह मंगल-सूत्र भी···' जब माँ ने भी सुना तो उसने अपने पैरों के कड़े खोलकर दे दिए।

राकेश ने कहा—'नहीं मैं ऐसा नहीं कर सकता। जिन पर मैं खुद भार हूँ उनके गहने मैं नहीं बेच सकता। मैं नहीं बेचूंगा इन्हें वापस ले जाओ राधा इन्हें वापस ले जाओ!'

राधा ने समझाते हुए कहा—'अरे! इनके बेचने से नौकरी मिलती है तो गहने तो बाद में भी बन सकते हैं।'

राकेश के बात समझ में आ चुकी थी। इसके सिवाय उसके पास और कोई चारा भी नही था। उसने अपनी पत्नी और माँ के गहने बेच दिए। पाँच हजार रुपये लेकर राकेश बाबू के पास पहुँचा। राकेश के वचन और समय की पाबन्दी से वह बहुत खुश हुआ। रुपये लेकर उसने हाथों हाथ नौकरी का आदेश दे दिया।

राकेश के दिन अब फिर चुके थे। कल तक वह सड़क छाप था आज वह नायब तहसीलदार बन चुका था। तहसीलदार बनने के बाद भी उसकी आँखों मे रह-रहकर अपनी माँ और पत्नी के गहने घूम रहे थे। किन मुसीबतो और संघर्षों को पार करते हुए उसे आज कामयाबी की मंजिल मिली थी। इसे वह अच्छी तरह से जानता था। इसलिए उसने यह तय कर लिया था कि वह रिश्वत के नाम पर किसी भी गरीब को नही सताएगा।

रिश्वत न लेने की इस नीति के फलस्वरूप नायब तहसीलदार राकेश कुछ ही महीनो मे अपने तहसील और जिले मे प्रसिद्ध हो गया। भाग्य ने जोर मारा। कुछ वर्षों बाद राकेश का प्रमोशन हो गया। उसकी ड्यूटी जिलाधीश कार्यालय मे ही लग गई। अब वह एक बड़ा ऑफिसर बन चुका था।

साल पर साल गुजरते गये। समय पंख लगाकर तेजी से उड रहा था। एक दिन राकेश अपने आफिस मे बैठा हुआ फाइलें निपटा रहा था कुछ फाइलें ऐसी थी जिन पर मात्र चिड़िया बैठानी थी। राकेश एक के बाद एक फाइल ध्यानपूर्वक देख रहा था अभी उसने दूसरी फाइल खोली ही थी कि वह एकदम चौंक उठा। यह परसादीलाल की फाइल थी जिसमें उसके नाम पते के साथ उसकी फोटो भी चस्पा थी। उसके नाम और फोटो देखकर राजेश अपने अतीत मे खो गया। उसके सामने उसकी माँ और पत्नी के गहने चमकने लगे। वह पसीना-पसीना हो गया।

राकेश ने एकदम फाइल बंद की तथा अलमारी मे रखकर उसे लॉक कर दिया।

यह परसादीलाल का पेंशन केस था। वह पेंशन की उलझी हुई राशि शीघ्रातिशीघ्र लेना चाहता था। वह क्लर्क था इसलिए उसने कई पत्र लिखे किन्तु उसे किसी भी पत्र का जवाब नहीं मिला। हारकर उसे राकेश बाबू के आफिस मे आना पड़ा। परसादीलाल राकेश को अब तक भूल चुका था। उसने नमस्ते कर अपने आने का मन्तव्य बताया। राकेश ने कहा, 'तुम्हारा सर्विस रेकार्ड खराब है नौकरी देने के नाम पर तुमने लोगों से पाँच-पाँच, दस-दस हजार रुपये खाये है।'

'नही साहब मैंने अपने जीवन मे ऐसा कोई काम नही किया।'

'तुम झूठ बोलते हो परसादीलाल।' राकेश दहाड़ा।

याद है तुम्हें, तुमने नायब तहसीलदार की नौकरी के लिए मुझसे पाँच हजार रुपये नही लिए थे? बोलो नही लिए थे? उस वक्त मैंने अपनी माँ और पत्नी के गहने बेचकर तुम्हे पाँच हजार रुपये दिए थे। बोलो है न सच?

राकेश की बात सुनकर वृद्ध परसादीलाल कांपने लगा। हाथ जोड़ता हुआ वह बोला, 'मुझसे गलती हो गयी साहब। मुझे क्षमा कर दो साहब।'

'मेरे क्षमा करने से क्या होगा? मेरे जैसे कई लोगों का तुमने रुपया ऐंठा होगा अब आयी है तुम्हारी चाबी मेरे हाथ में। बच्चूलाल अब बचकर कहां जाओगे।'

परसादीलाल सब समझ चुका था—उसने कहा, 'साहब मैं आपके पाँच हजार रुपये लौटाने के लिए तैयार हूं। आप मेरा पेंशन केस निपटा दीजिए।'

राकेश ने कहा, 'पाँच हजार तो मेरी रकम और एक हजार रुपया पेंशन केस निपटाने के। पूरे छ हजार रुपया ले आना मैं तुम्हारा केस निपटा दूंगा।

बेचारे परसादीलाल ने दूसरे दिन छ हजार रुपये दुखते मन से राकेश के सामने लाकर रख दिये।

राकेश ने नोटों का बंडल हवा में उछाला और परसादी लाल को घूरकर देखा तो देखता ही चला गया। थोड़ी देर बाद उसके हाथ में टेलिफोन का चोगा था। ●

दुआओं का व्योपार

□

विष्णु प्रसाद चतुर्वेदी

मार्च का महीना था। मैं पंखे की हवा से उकताकर, बाहर लॉन पर आ बैठा था। घर मे, उन दिनो, मैं अकेला ही था। अकेलेपन से छुटकारा पाना, एक अन्य उद्देश्य था मेरे बाहर आ बैठने का।

मैं कभी पत्रिका पर नज़र जमाता तो कभी आते-जाते लोगो को देखने लगता। दरअसल मेरा चित्त स्थिर नही था। मुझे कई कार्य निपटाने थे परन्तु मन किसी में नही लग रहा था।

पत्नी दोनों बच्चो के साथ मायके गयी थी। सुनील का पत्र आया कि सकुशल पहुँच गये हैं, परन्तु रास्ते की थकान के कारण मम्मी की साँस की तकलीफ़ बढ़ गयी है। इस सूचना ने ही मुझे अव्यवस्थित कर दिया था। मैं जानता था कि इसमे विचलित होने की कोई बात नही थी। सफ़र की थकान के कारण ऐसा हो गया होगा। उसका भाई डॉक्टर है सब संभाल लेगा। इसके बावजूद दिल में एक हल्की चुभन-सी महसूस हो रही थी।

'जय सियाराम' के ऊँचे बोल कानो में पड़े।

सर उठाकर देखा तो द्वार पर एक बाबाजी खड़े थे। भगवा वस्त्र, नकली जटाओं से ढका सिर, चेहरे पर हल्की खिचडी दाढी। कानों मे बड़े-बड़े कुण्डल लटक रहे थे। उम्र कोई पैंतालीस वर्ष रही होगी। एक हाथ मे, कमण्डल के स्थान पर, स्टील की बाल्टी थी। दूसरे हाथ मे बडा-सा शख था।

सन्तों-बाबाओ मे मेरी आस्था कभी नही रही। मैंने 'जय सियाराम' के नाद पर कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नही की तो उसने जोर से शख बजा मेरा ध्यान आकर्षित करने का प्रयास किया। मैं फिर भी कुछ नही बोला, हाथ से उसे आगे जाने का सकेत किया। परन्तु वह आगे जाने के बजाय दरवाजा पार कर मेरे सामने आ खड़ा हुआ।

कोई दूसरा दिन होता तो बाबा का यह व्यवहार मुझे क्रोधित कर देता और मैं उसे बाहर धकेल देता। परन्तु उस दिन तो मैं कुछ बोल भी नही पाया।

'घर आये सन्यासी का अपमान नही करते। हमे ज्ञात है कि बच्चा कुछ परे-

ध्यान है। चिन्ता की कोई बात नहीं। भगवान हमारी प्रार्थना अवश्य सुनेंगे।'

बाबा ने मेरी आँखों में आँखें डालकर कहा।

'सब अच्छा होगा। आज शाम के भोजन का सवाल है। भगवान के नाम पर सवा पाँच रुपये दिलाओ बच्चा।' आवाज में अनुरोध कम और आदेश अधिक था।

कुछ देर पहले ही सिगरेट का पैकेट मँगवाया था। उसमें से ही बारह रुपये पैंतीस पैसे बचे थे जो पास ही स्टूल पर रखे थे। उसमें से दो रुपये पैंतीस पैसे मैंने उसकी बाल्टी में डाल दिये।

'इतने से भोजन नहीं होगा' उसने और पाने की नीयत से आग्रह किया।

'अब माफ करो, बस इतना ही मिल सकेगा।' मैंने खीझते हुए कहा।

उसने बात को अब और खींचना उचित नहीं समझा, इसी कारण 'भगवान तेरा भण्डार सदा भरा रखेंगे। तेरी उम्र बढ़ेगी' आशीष देता हुआ आगे बढ़ गया।

कुछ दिन बाद मैं एक लेटर की रजिस्ट्री कराने पोस्ट ऑफिस गया। उस समय आठ-दस लोग रहे होंगे वहाँ। किसी ने मुझसे पेन माँगा तथा पास ही खड़ा-खड़ा मनी-आर्डर फ़ार्म भरने लगा।

रजिस्ट्री कराने के बाद पेन लेने के उद्देश्य से मैंने उस अपरिचित की ओर देखा। मुझे यह पहचानते देर नहीं लगी कि यह तो वही बाबा है जो मुझसे सवा पाँच रुपये माँगने आया था।

इस समय वह संन्यासी के वेष में नहीं था। वह श्वेत कुर्ता-पाजामा पहने था। सर पर जटाएँ नहीं थीं। परन्तु चेहरे पर खिचड़ी दाढ़ी यथावत थी।

मनीआर्डर फार्म भर कर 'बाबा' ने पेन मेरी ओर बढ़ाया। मैंने पेन लेकर कहा, 'आज आशीर्वाद नहीं दोगे ?'

उसने मुझे घूरा फिर बिना झिझक बोला, 'अच्छा तो पहचान गये ?'

मैंने भी अब कोई भूमिका बाँधना उचित नहीं समझा। सीधा प्रश्न किया, 'यह क्या माया है ?'

वह मुसकराया और बोला, 'माया-वाया कुछ नहीं, लड़का कॉलिज में पढ़ रहा है। उसके खर्च के लिए मनीआर्डर करवाया है।'

'तो साधु के वेष में ढोंगी हो ?' मैं व्यंग्य से बोला।

मेरे कटु वचन से भी वह विचलित नहीं हुआ।

'इसमें ढोंग की क्या बात है ? अपने-अपने ढंग से सभी पैसा कमाते हैं। राजनीति करने वाले झूठे आश्वासन बेचते हैं। मैं दुआओं के बदले पैसा लेता हूँ। राजनीति करने के लिए खादी पहननी पड़ती है। इसी प्रकार इस धंधे में भगवा वस्त्र पहनना पड़ता है। और थोड़ी-बहुत झूठ तो हर धंधे में चलती ही है।'

इतना कह वह तेजी से बाहर निकल गया। मैं कुछ और बोलता उससे पूर्व वह बहुत दूर जा चुका था। ●

अतीत का मूल्य

□

शिव मृदुल

वर्मा साहब की सेवा-निवृत्ति का दिन था। डिवीजन के सभी बड़े-बड़े ठेकेदार और अधिकारी उन्हें बँगले पर पहुँचाने आये। भला आते क्यों नहीं ! सभी पर उनके अहसान जो थे।

सबने मिलकर आज उन्हें अच्छी सी दावत दी थी। सेवा-निवृत्ति के अवसर पर उनके द्वारा दी गयी भेंट-सामग्री एक ट्रॉली में भरकर लायी गयी। रेडियो, फ्रीज, कूलर, पखे, आलमारियाँ, सोफासेट···। लगता था किसी बड़े उद्योगपति की पुत्री के लिए दहेज का सामान हो। इस दिखते-दिखाते सामान के अलावा सोने की चैन और मोती की अँगूठियाँ भी भेंट में थी।

खैर, वर्मा साहब ने अपने पद के प्रभाव से लोगों पर जो अहसान किये थे, उनकी तुलना में इस भेंट-सामग्री का मूल्य नगण्य था।

उनके बँगले से सब लोग जब रवाना हुए, रात्रि के नौ बज चुके थे। सबके प्रस्थान के बाद वर्मा साहब जब सोये तो उन्हें नींद नहीं आयी। वे पलग पर करवटें बदलते सोचते रहे—

'एक साधारण परिवार में जन्म लेकर मैंने जो धन और प्रतिष्ठा अर्जित की है, मेरे परिश्रम और योग्यता का ही परिणाम है।'

सोचते-सोचते उन्हें प० हरिहरनाथ की बात याद हो आयी। वे परसों ही तो किसी काम से उनसे मिलने आये थे। बैठक में काफी देर चर्चा हुई थी।'

बातों ही बातों में वर्मा साहब ने उनसे कहा था—'पंडितजी, परसों तो मेरा रिटायरमेंट है।'

'अरे साहब, आपको रिटायरमेंट की क्या चिन्ता ! विधाता ने फुर्सत में आपका भाग्य लिखा है। संसार के सभी सुख भोग रहे हो।'

'पर रिटायरमेंट तो रिटायरमेंट ही है पंडितजी !'

'हाँ-हाँ साहब, माना। मगर चिन्ता तो उन लोगों को होती है जो जिन्दगी भर आदर्शों की पूँछ पकड़े बैठे रहते हैं। बदलते समय को नहीं पहचानते। ना किसी का काम करते हैं और ना किसी की दुआ लेते हैं। ऐसे लोगों को रिटायर होते

ही कोई दो टके के भाव भी नहीं पूछता। पर, आप आप हैं आपने पद पर रहते हुए धन और यश सब कुछ कमाया है।'

'पंडितजी, बात तो पते की कहते हो। पैसे बिना कुछ नहीं। आज के युग में जिसने समय की गति को पहचाना है, वही सुख से जी सका है।'

'हाँ साहब, तभी तो आप सुख भोग रहे हैं। भगवान की दया से अच्छा स्वास्थ्य है। पचपन के होते हुए भी पैंतीस के लगते हो। घर में रामजी राजी हैं। समाज में प्रतिष्ठा है। दो पुत्र और शहर में दोनों के नाम कोठियाँ। दोनों बहुएँ भी लक्ष्मी का अवतार हैं। बड़ी बहू की प्रशंसा तो आपके मुँह से कई बार सुन चुका हूँ। छोटी बहू को तो अभी घर में आये छ: माह ही हुए हैं।'

'अरे पंडितजी, क्या बताऊँ। छोटी बहू तो वास्तव में लक्ष्मी है। पिचहत्तर हजार का दहेज लायी है। बड़ी बहू के पिता ने तो तीस हजार के दहेज में ही टरका दिया। वे चाहते तो ज्यादा भी दे सकते थे। बड़ी बहू का भाई डॉक्टर है। माना हुआ फिजीशियन। दो महीने हुए प्रमोशन पर अपने ही शहर में आया है। बड़े अस्पताल का इंचार्ज है।'

'कौन, डॉक्टर मुकेश?'

'हाँ-हाँ पंडितजी, वही मुकेश! बड़ी बहू का भाई है।'

'अरे साहब, हमने तो उसकी खूब प्रशंसा सुनी है। एक बार तो मरीज को वह यमराज के हाथों से खींच लाता है।'

'हाँ पंडितजी, सही है। मगर···हमें तो दहेज में तीस हजार ही मिले।'

'तो मतलब यह है वर्मा साहब, कि छोटी बहू के आने के बाद बड़ी बहू के भाव घट गये।'

'नहीं-नहीं हरिहरनाथजी, मेरा यह मतलब नहीं। बड़ी बहू तो बड़ी ही है।'

'हाँ-हाँ वर्मा साहब, मैं भी मानता हूँ—बड़ी बहू तो बड़ी ही है।'

'अरे पंडितजी, आप तो बोलते की जबान पकड़ते हैं। खूब तेज आदमी हैं··· लो यह दीपक आ गया, अपर के० जी० में पढ़ता है। जब मैं घर में होता हूँ तो मेरे पास ही रहता है या इसकी दादी के पास। इसकी मम्मी, याने कि बड़ी बहू के पास तो बहुत कम ही जाता है।'

'हाँ-हाँ साहब, तभी तो कह रहा हूँ कि आपका भाग्य विधाता ने फुर्सत के समय लिखा है। आप इसे दीपक नहीं, कुल-दीपक कहिये।'

···सोचते-सोचते वर्मा साहब की आँख लग गयी।

सुबह जागते ही वर्मा साहब ने हमेशा की तरह कहा—चाय।

छोटी बहू रसोई में चाय बना रही थी और बड़ी बहू दीपक को स्कूल के लिए तैयार कर रही थी।

रात में करवटें बदलते समय उठे विचारों का क्रम वर्मा साहब की नींद खुलने

के साथ ही फिर शुरू हो गया। प० हरिहरनाथ से हुई बातचीत मानस मे फिर उभर आई। विचारो के बीच तीन-चार बार चाय के लिए कह दिया किन्तु अभी चाय नही आयी थी। दीपक को स्कूल की जल्दी थी। स्कूल-बस बाहर खड़ी हार्न दे रही थी। इसी बीच जोर से बोलते हुए वर्मा साहब ने एक बार फिर कहा—चाय !

दीपक बस की तरफ भागता हुआ कह गया—दादाजी थोड़ा तो सबर रखिये। आटी जी कह रही है—आपको आज कौन-सा ऑफिस जाना है।

दीपक स्कूल-बस मे जा बैठा मगर उसके शब्द सुनकर वर्मा साहब के सर पर हथौड़ा-सा पड़ा। उनके मस्तिष्क का तार-तार झनझना उठा। बिजली की तरह विचार कौंध गया—मेरे एक हुक्म पर दस-दस आदमी एक साथ दौड़ पड़ते थे। मेरा रिटायरमेंट होते ही—पहले ही दिन—चाय की एक प्याली के लिए बहू ने कह दिया—आज आपको कौन-सा ऑफ़िस जाना है !

यकायक चेहरे पर पसीना उभर आया और वर्मा साहब धडाम से कुर्सी पर से नीचे आ गिरे। सारे घर मे भगदड़ मच गयी। सबके सब वर्मा साहब की तरफ दौड़ पड़े।

करीब आधा घटे बाद वर्मा साहब को कुछ होश आया। आंख खुली तो देखा—सामने ड्रिप चल रही है। बांये हाथ की नस मे सुई लगी है। हाथ को थामे उनकी पत्नी कुर्सी पर बैठी है। पास ही दोनो पुत्र-वधुएँ खडी है। पांवो की तरफ दोनों पुत्र खड़े हैं। नजर दायी तरफ मुडी तो देखा—डॉ० मुकेश बी० पी० चेक कर रहा है। उसे देखकर वर्मा साहब अस्फुट स्वर में बोले—आप···!

'हाँ साहब, वहिन ने अविलम्ब पहुँचने के लिए टेलीफोन किया था।'

वर्मा साहब को एक बार फिर प० हरिहरनाथ की बात याद हो गयी। उनकी नजर बडी बहू—ड्रिप···और सहमी-सी खडी छोटी बहू की तरफ बारी-बारी से घूमने लगी। मन···तीस हजार और पिचहत्तर हजार के बीच ड्रिप की तरह लटका, गिरती बूँदो के साथ, अपने अतीत का मूल्य फिर से आँकने लगा। ●

'नही लाया !' बाबू ने संक्षिप्त-सा उत्तर दिया।

'क्यों ?' उनको कुछ गुस्सा आ गया था।

'आज मैं बस्ता लाया ही नही।' वह निर्भयता से बोला।

'अच्छा ! क्यो ! बहुत बेपरवाह हो गया है तू। मलेरिया बुखार की तरह एक दिन आता है, एक दिन नही।' कहते-कहते उनकी आवाज ऊँची हो गयी थी। सारी क्लास ही···ही कर हँसने लगी थी। वे क्रोधित हो गये थे।

'घूमता रह तू उस नरेन्द्र के साथ।···परीक्षा सर पर आ गयी है···काम तेरा पूरा है नही, कक्षा मे तू आता नही फिर परीक्षा में तेरा काम वह नरेन्द्र कर देगा क्या !···वे जोर-जोर से कह रहे थे। बाबू अपराधी-सा सर झुकाये खड़ा था।

बस ! इतनी-सी ही तो बात थी। तीसरे पीरियड में यह बात हुई और छुट्टी होते ही चौराहे पर नरेन्द्र ने···

नरेन्द्र का नाम याद आते ही उनकी नसें एक बारगी तन गयी। क्रोध से उनका चेहरा तमतमा उठा।

पी···पी···पी···कोई कार वाला सामने हॉर्न दे रहा था। वे टकराते-टकराते बचे। सर को एक झटका देकर वे फिर पैंडल मारने लगे। उन्हे अपनी नौकरी के पिछले वर्ष याद आने लगे···

सत्ताईस वर्ष ! इतने वर्षों मे कितने लोग, कितने गाँव, कितने विद्यार्थी वे देख चुके थे। कितना स्नेह व सम्मान पाया है उन्होने छात्रो मे, समाज मे। अपने ही कस्बे में स्थानान्तरण होने पर वे कितने खुश हुए थे। कितना उत्साह था अपने ही कस्बे के बच्चों को पढ़ाने का उनमें। किन्तु आज उस बाबू ··उस नरेन्द्र ने···

उनका मन फिर घृणा से भर उठा। वे सड़क पर थूक देना चाहते थे पर थूक नही पाये।

फिर याद आया। वे कुछ पढ रहे थे। उनकी पत्नी ने कहा था, 'सुना आपने !'

'कहो।' उन्होंने अखबार से नजरें हटाये वगैर ही कहा।

'यह बाबू की माँ आपसे कुछ कह रही है।'

'हाँ, कहो।' उन्होने अखबार एक तरफ रख दिया। उसने एक कार्ड उनको तरफ बढा दिया। यह बाबू का प्रगति-पत्र था। आठवी कक्षा मे फर्स्ट डिवीजन। बाबू पास ही खड़ा था। उसने झुककर पांव छुए। वे गर्व से भर गये।···बाबू ! जिसकी विधवा माँ ने मजदूरी कर बाबू को पढ़ाया था। आठवी कक्षा मे फर्स्ट डिवीजन से पास हुआ था···

'म्हारे बाबू ने हमे कठेई नौकरी लगावो नी' वह बोली। वे सिर्फ हँस दिये थे।

'नौकरी कोई यूंइज थोड़ेई मलै।' उन्होने कहा, 'काँई तो टाबर ने भणावणों ई

और मैल धुल गया

□

पी० राज 'निराश'

साइकिल का टकरा जाना महज सयोग नही था। यह तब और भी स्पष्ट हो गया जब नीली शर्ट और जीन पहने, मुँह में पान दबाये नरेन्द्र ने गुस्से होते हुए कहा, 'क्यों बुढ़ऊ दिखता नही ?'

वे एकदम सकते में आ गये। अचानक सामने तो वही आया था और अब रौब भी वही गालिब कर रहा था···

लोग जमा होने लगे। साइकिल से नीचे उतरते हुए वह कहने लगा, 'आज तो क्लास मे आपने मेरा नाम लिया है, आइन्दा लिया तो ठीक न होगा, हाँ !' वे कुछ समझ न पा रहे थे। आखिर वह कह क्या रहा है ! 'हाँ, 'बाबू' अगर मेरे साथ घूमता है तो आपके बाप का क्या जाता है ··और ज़रा यह भी बता दीजिये कि मैं क्या बुरा हूँ।' वह गुस्से से लाल हो रहा था।

लोग पूछने लगे 'मास्टर जी ! क्या बात हो गयी।' उनकी इच्छा हुई कि नरेन्द्र के चेहरे पर एक तमाचा जड़ दे और बता दे कि वह कितना बुरा है ! परन्तु उन्होंने कुछ भी नही कहा। चुपचाप साइकिल पर बैठ चल दिये। उनके पीछे नरेन्द्र और उसके साथियों की खिलखिलाहट देर तक पीछा करती रही।

धीरे-धीरे सारी बात स्पष्ट होने लगी। तो यह तीसरे पीरियड मे आज उन्होने बाबू से जो कुछ कहा उसका नतीजा है···हाँ, आज ही तो ! वे पिछले कई दिनो से देख रहे थे बाबू नियमित रूप से विद्यालय नही आ रहा है। उनके पडोस मे ही तो रहता था वह। वे रोज समय पर घर से जाते हुए देखते पर जाने कहाँ रास्ते मे अटक जाता ! कभी आता—कभी नही। पिछले कुछ दिन से वे उसे नरेन्द्र के साथ देख रहे थे। नरेन्द्र ने पिछले वर्ष इसी विद्यालय से हायर सेकेण्डरी किया था अब बेकार घूम रहा था।

आज जब वे कक्षा में गये तो देखा बाबू क्लास में है। पाठ पढ़ाकर, छात्रों की कापियाँ जाँचते-जाँचते जब वे बाबू की टेबल पर पहुँचे तो देखा वह सिर्फ दो पन्ने लिए लिख रहा है।

'कापी कहाँ है ?' उन्होने पूछा।

'नही लाया !' बाबू ने संक्षिप्त-सा उत्तर दिया।

'क्यों ?' उनको कुछ गुस्सा आ गया था।

'आज मैं बस्ता लाया ही नही।' वह निर्भयता से बोला।

'अच्छा ! क्यो ! बहुत बेपरवाह हो गया है तू। मलेरिया बुखार की तरह एक दिन आता है, एक दिन नही।' कहते-कहते उनकी आवाज ऊँची हो गयी थी। सारी क्लास ही···ही कर हँसने लगी थी। वे क्रोधित हो गये थे।

'घूमता रह तू उस नरेन्द्र के साथ।···परीक्षा सर पर आ गयी है···काम तेरा पूरा है नही, कक्षा मे तू आता नही फिर परीक्षा मे तेरा काम वह नरेन्द्र कर देगा क्या !···वे जोर-जोर से कह रहे थे। बाबू अपराधी-सा सर झुकाये खड़ा था।

बस ! इतनी-सी ही तो बात थी। तीसरे पीरियड मे यह बात हुई और छुट्टी होते ही चौराहे पर नरेन्द्र ने···

नरेन्द्र का नाम याद आते ही उनकी नसें एक बारगी तन गयी। क्रोध से उनका चेहरा तमतमा उठा।

पी···पी···पी···कोई कार वाला सामने हॉर्न दे रहा था। वे टकराते-टकराते बचे। सर को एक झटका देकर वे फिर पैंडल मारने लगे। उन्हे अपनी नौकरी के पिछले वर्ष याद आने लगे···

सत्ताईस वर्ष ! इतने वर्षों में कितने लोग, कितने गाँव, कितने विद्यार्थी वे देख चुके थे। कितना स्नेह व सम्मान पाया है उन्होने छात्रों मे, समाज मे। अपने ही कस्बे मे स्थानान्तरण होने पर वे कितने खुश हुए थे। कितना उत्साह था अपने ही कस्बे के बच्चो को पढ़ाने का उनमे। किन्तु आज उस बाबू···उस नरेन्द्र ने···

उनका मन फिर घृणा से भर उठा। वे सड़क पर थूक देना चाहते थे पर थूक नही पाये।

फिर याद आया। वे कुछ पढ रहे थे। उनकी पत्नी ने कहा था, 'सुना आपने !'

'कहो।' उन्होंने अखबार से नजरें हटाये वगैर ही कहा।

'यह बाबू की माँ आपसे कुछ कह रही है।'

'हाँ, कहो।' उन्होने अखबार एक तरफ रख दिया। उसने एक कार्ड उनकी तरफ बढा दिया। यह बाबू का प्रगति-पत्र था। आठवी कक्षा में फर्स्ट डिवीज़न। बाबू पास ही खड़ा था। उसने झुककर पाँव छुए। वे गर्व से भर गये।···बाबू ! जिसकी विधवा माँ ने मजदूरी कर बाबू को पढ़ाया था। आठवी कक्षा मे फर्स्ट डिवीजन से पास हुआ था···

'म्हारे बाबू ने हमें कठैई नौकरी लगावो नी' वह बोली। वे सिर्फ हँस दिये थे।

'नौकरी कोई यूँइज थोड़ेई मलै।' उन्होने कहा, 'काँई तो टाबर ने भणावणों ई

पड़े ।'

'पण म्हारी तो हमै सकत कोनी ।' वह कातर हो उठी थी।

'तुझे पढना है रे !' उन्होंने बाबू से पूछा था।

'जी-जी हाँ, उसने छोटा-सा उत्तर दिया था ।

'ठीक है, अणने दसमी—अग्यारमी तक तो भणवो पड़ैला···पछै नौकरी मलैता···हाल अणरी उमर कोनी नौकरी लायक पढ़ियोइ पण कोनी।' उन्होंने बाबू की माँ को समझाया।

'पण भणावण ने तो पइसा चइजे ! हे भगवान ! मैं ए दिन कीकर काढया, मू इज जोणूं हूँ।' बाबू की माँ को वे सघर्ष के दिन याद आ गये थे।

'पण थारे छोरा नें पढणो पडैला। मैं काई तो करूँला।' अगले दिन उन्होंने बाबू को स्कूल आने कहा था। उन्होंने उसकी फ़ीस माफ करवायी। लाइब्रेरी से किताबें दिलवायी 'चिल्ड्रन वेल्फ़ेयर फण्ड' से ड्रेस बनवायी और भी सब आगे करते ही रहे। उसी बाबू के कारण आज उन्हे अपमानित होना पडा था ।

'घर का जोगी जोगना—आन गाँव का सिद्ध।' सहसा उनके होठों पर आ गया।

घर मे अजीब शान्ति थी। उन्होने पत्नी को आवाज दी पर कोई उत्तर नही मिला। वे कपड़े बदलकर विस्तर पर लेट अखबार टटोलने लगे पर शब्द हरकत करते···उन्हे हर शब्द बाबू···नरेन्द्र···उसके मित्र···और साइकिल के रूप मे ही दीखता। उन्होने सर को झटककर ध्यान से पढना शुरू किया।

'सुना आपने।' उनकी पत्नी उनसे कुछ कह रही थी। 'बाबू की माँ बीमार है···बहुत तेज बुखार है उसे—उल्टी भी हो रही है।' उन्होने रुक-रुक कहा—

'सो मैं क्या करूँ।' वे क्रोध मे जल रहे थे।

'मैं वही गयी थी।' उसने सकपकाते हुए कहा।

'क्या ज्यादा बीमार है ?' अब वे कुछ नरम पड़ गये थे।

'हाँ, हो सके तो आप जरा सँभाल लें', उसने पानी का गिलास थमाते हुए कहा, 'बेचारी गरीब है और पडोसिन तो है ही।'

'आओ चलें।' वे उठे और तेजी से बाबू के घर की तरफ चल दिये।

कच्चा फूस का छप्पर ! दो-चार मटके इधर-उधर पडे थे। एक खटिया पर पड़ी वह कराह रही थी···पानी···पानी··

उन्होंने उसे पानी पिलाया। पानी पीते ही वह कै करने लगी। उनकी पत्नी उसकी पीठ पर हाथ फिराने लगी; वे पंखा झलने लगे।

'तो मैं किसी डॉक्टर को बुला लाऊँ।' कहते हुए वे बाहर चले गये।

'अब कोई चिन्ता की बात नही है', डाक्टर ने उनके साथ दरवाजे से बाहर निकलते हुए कहा।

'धन्यवाद!' कहते हुए उन्होंने डॉक्टर को फ़ीस के पैसे देने के लिए जेब मे हाथ डाला।

'नो-नो सर, यह ज़ुल्म आप न करें।' डॉक्टर कहने लगा, 'सर आप मुझे भूल गये मैं आपका स्टूडेन्ट रहा हूँ, विमल राय!'

'ओ हो तुम विमल! वे उसकी पीठ थपथपाने लगे। उसी समय उन्होने देखा बाबू नरेन्द्र-राधेश्याम घर के दरवाजे पर खड़े हैं। वे बाहर निकल आये। पीछे नरेन्द्र बोल उठा, 'तो बुड्ढ यहाँ तक पहुँच गया है।'

स्कूल जाते ही नजर नोटिस बोर्ड पर पड़ी 'निम्नलिखित विद्यार्थी उपस्थिति कम होने से वार्षिक परीक्षा मे बैठने से वंचित किये जाते हैं' वे नाम पढने लगे— बाबूलाल···राधेश्याम···मनमोहन···

'अरे! ये तो उसी चाण्डाल चौकडी मे से है।' चलो अच्छा हुआ! सबको फल मिल गया। उनको कुछ सन्तोष हुआ पर दूसरे ही क्षण···बाबूलाल···बाबूलाल ...विद्यालय की घंटी की तरह बस यही नाम उनके कानों मे बजने लगा।

'हुँह, होगा। मैंने क्या दुनिया संवारने का ठेका ले रखा है। नो-नो, टिट फॉर टैट, शठे शाठ्य समाचरेत्; जैसे को तैसा!'

'नही, नही वह बच्चा है, नादान, है···कुछ-न-कुछतो करना ही होगा'··· उनके मन मे संघर्ष होने लगा।

'लेकिन आप यह सर्टिफिकेट क्यों लाये हैं?' प्रधानाध्यापक जी ने नाराज होकर कहा, 'मुझे सब मालूम है। क्या किया था इन छात्रो ने आपके साथ। मेरे पास सब खबरें हैं। आइ वाण्ट टू टीच देम अ लेसन।

'सर वह नादान है···समझता नही है, वह गलती करे तो क्या मैं भी गलती करूँ।' उन्होंने जोर देकर कहा।

'वह तो ठीक है पर!' प्रधानाध्यापक जी निरुत्तर हो गये थे। उन्होने देखा राधेश्याम-मनमोहन भी अपने-अपने अभिभावको के साथ कार्यालय में खडे है।

आज उन्हे सन्तोष था। आज फिर उनके हाथों एक अच्छा काम हुआ था।

'सुना आपने! बाबू आया है!' उनकी पत्नी ने कहा।

उन्होंने नजर उठाकर देखा दरवाजे के बाहर बाबू खड़ा था। 'आओ-आओ

टूटता बाँध

□

अर्जुन 'अरविंद'

दिन कितना बड़ा हो गया है ! ताड़-सा लम्बा। अहसासों से भरा, सुबह से लेकर अब तक तरह-तरह के अहसासों की सड़क पर वह चलती रही थी। कितना कुछ सोचा था, उसने···इतवार आयेगा···यह करेगी···वह करेगी···पर कुछ भी नहीं कर सकी और सारा दिन यूँ ही बीत गया।

सबके घरों की शामें इतनी उदास नहीं होतीं जितनी कि 'वर्षा' अनुभव करती है। सड़क पर शाम के समय घूमते-टहलते, हँसते-बोलते लोगों को देखकर उसके मन में कोई दर्द जोरों से भर उठता है। पड़ोस के घर में रोज शाम को पति-पत्नी की बातें, हँसी-ठहाके और खिलखिलाहटें सुनती है तो वह लॉन में टिक नहीं पाती। घर के भीतर चली जाती है, जहाँ उसे अपनी साँसों, निःश्वासों के अलावा कोई तीसरा स्वर न सुनाई दे।

जब रात गहराने लगी तो 'वर्षा' ने सोने का प्रयत्न किया। हाँ, उसे अब सो जाना चाहिए। लेकिन धीरे-धीरे उसकी आँखों में दिवाकर की छवि उतर ही आयी—सुन्दर छह फुटा जवान, भरी हुई इकहरी देह, बड़ी-बड़ी आँखें और चेहरे पर बौद्धिकता का तेज···ओह ! मैंने क्या किया था दिवाकर, कि तुमने मेरे साथ यह व्यवहार किया। मैं तो तुम्हारे लिए जी-जान से समर्पित थी। तुमने मुझे स्वयं पसन्द किया था। तुमने मेरे शील में कभी कोई खोट देखी क्या ? मेरे पिताजी ने दहेज में बीस-पच्चीस हजार का सामान दिया, इतना ही नकद भी। तुम्हें और क्या चाहिए था ? सौन्दर्य ! मैं नहीं जानती कि मैं तुम्हारी निगाह में सुन्दर जँची थी कि नहीं, लेकिन मेरी सखियाँ मेरे सौन्दर्य का बखान करती नहीं थकती थीं। बिस्तर पर लेटे-लेटे अतीत के काँटे उसके मन को कुरेदने लगे।

पाँच वर्ष पहले, वर्षा की शादी हुई, दिवाकर के साथ। दिवाकर कस्बाई परिवार का युवक था। वह अभी फाइनल में पढ़ ही रहा था कि वर्षा के पिता को जँच गया। दिवाकर ने भी वर्षा को देखकर सहर्ष स्वीकृति दे दी। उसी वर्ष उनका विवाह हो गया। दिवाकर के परिवार वाले चाहते थे कि वह बी० ए० पास करके कहीं नौकरी कर ले। लेकिन उसने पढ़ाई जारी रखने का आग्रह किया। घरवालों

बाबू आओ, कैसे आये !' उन्होंने कहा।

'सर मुझे माफ कर दीजिये।' वह अन्दर आते ही उनके पैर पकड़ कर रोने लगा था। उन्होंने उसे उठाकर गले से लगा लिया।

अरे ! यह क्या ! बाबू के पीछे नरेन्द्र व राधेश्याम भी खड़े थे वे भी आँखें पोछ रहे थे। 'सर हमे माफ कर दो···सर हमे माफ कर दो।'

'लेकिन···लेकिन तुम्हारी गलती कहाँ है ?' उनकी आंखो में भी खुशी के आँसू चमकने लगे थे उन्हें ऐसा लगा जैसे वर्षा की पहली ही झड़ी मे धरती का सारा मैल धुल गया।···

ने उसका विरोध किया। पर दिवाकर अपने निर्णय से नहीं डिगा। वह वर्षा को लेकर दिल्ली आ गया। किराये पर एक कमरा लेकर रहने लगा। वह ट्यूशन कर-करके पढ़ता गया। कुछ मदद वर्षा के पिता ने भी की। उसने एम० ए० पास कर लिया। कई साल नौकरी खोजने में बीते, कहीं कुछ नहीं मिला। वर्षा अपने जेवर बेचती गयी। मायके से काफी जेवर लेकर आयी थी। दिवाकर भी कुछ ट्यूशन से, कुछ लेखन से और कुछ अन्य कामों से कमा लेता था। उस अभाव की जिन्दगी में भी वर्षा को एक प्यार मिल रहा था। गाड़ी चलती ही गयी। कुछ साल बाद उसे दिल्ली के ही एक कालेज में लेकचरर की जगह मिल गयी। वर्षा ने निश्चिन्तता की साँस ली —चलो, सकट के दिन बीते। पतझर के बाद बहार आयेगी ही !

दिवाकर भी बहुत खुश था। नौकरी से एक निश्चितता आ गयी थी। वह एक पत्रिका निकालने लगा था। वह कहानी लेखक भी है, इधर-उधर उसकी चर्चा भी होने लगी थी। वह अपने काम-धाम में लगे रहने के बावजूद समय से घर आ जाता और समय से घर जाता था, किन्तु वर्षा ने एकाएक अनुभव किया कि दिवाकर अब देर से घर आने लगा। पहले तो उसने कुछ व्यस्तता के बहाने बनाये किन्तु जब देर से लौटने का उसका क्रम बन गया तब वर्षा का माथा ठनका। पहले तो वह दिवाकर की सारी डाक खुले भाव से देख लेती थी किन्तु अब दिवाकर ने मना कर दिया कि वह उसकी चिट्ठियाँ खोलकर न देखा करे।

लेकिन झूठ अधिक दिनों छिपता नहीं। एक दिन दिवाकर की पूरी सावधानी के बावजूद उसकी जेब से एक चिट्ठी मिल ही गयी, किसी मुक्ता शर्मा की थी। वह एक हिन्दी लेखिका थी। पत्रिका में उसकी कहानी छपने-छपाने का प्रसग था। जल्दी-जल्दी न मिलने की शिकायत थी। मिलने का समय दिया गया था। वर्षा तो अवाक् रह गयी। लगा, किसी ने उसका सारा रक्त सोख लिया है। धीरे-धीरे दिवाकर के दोस्तों से भी इस नये सबध के सकेत मिले। उसके मित्र आकर उसे तरह-तरह के बहानों से समझाने लगे कि समय से घर आया करो, अपनी गृहस्थी पर ध्यान दो। दिवाकर हँसकर सुन लेता।

दिवाकर ड्यूटी पर निकलने के बाद रात को खाने या सोने के समय ही लौटने लगा। हाँ, इतना जरूर था कि अगर ड्यूटी सुबह की होती थी तो दोपहर को खाना खाने के लिए आ जाता था। वर्षा के पास कोई काम नहीं था, सिवा उदासी में गुम रहने के। दिवाकर के चले जाने के बाद वर्षा देर तक नहाती थी। कपड़े धोती थी। बाजार जाकर सब्जी लाती थी, तरह-तरह के खाने बनाती, फिर भी यह सब कब तक करती ! कितना करती !! उसके बाद भी समय बरसात के पानी की तरह उसके आसपास फैला होता। आखिर खाना बनाने का शौक भी धीरे-धीरे मरता गया क्योंकि उसने दिवाकर को कभी मन से खाते नहीं देखा, प्रशंसा करना तो दूर रहा। इतने मन से बनाये गये खाने को वह जल्दी-जल्दी निगल लेता

और उठकर बिस्तर पर या बाहर चला जाता।

'क्यों, आपको मेरी कोई चीज पसन्द नहीं क्या ? मुझसे ऊब गये हो।' वर्षा पूछ बैठी।

'क्यों मेरी जान लेने पर तुली हो ?' कहकर दिवाकर झटके से बाहर चला गया। वर्षा आहत हो उठी। यह तुमने क्या कह दिया, दिवाकर ! मैं तुम्हारी जान ले रही हूँ ? मैं तो स्वयं तुम्हारी उदासीनता की आँच में तिल-तिल कर मर रही हूँ। पता नहीं, किस दिन साँसें एक हो जाएँ। और तुम कह रहे हो कि मैं तुम्हारी जान ले रही हूँ। मुझे मालूम है कि तुम्हे मेरा यहाँ होना अच्छा नहीं लगता और तुम मुक्ता से'''। लेकिन मैं क्या करूँ, कहाँ जाऊँ ?

अभी तक वर्षा की पास-पड़ोस के लोगों से कोई खास पहचान नहीं हुई थी। हाँ, रोज सुबह-सुबह एक जमादारनी सलाम बोल जाती थी। वैसे भी उसकी चौपाली आदत कभी नहीं रही। काम निवटाकर चौपाल जमाना औरतों का काम ही है। उसमें अनेक बातें होती हैं—अभिनेता-अभिनेत्रियों के फैशन से लेकर पड़ौसिनो की निन्दा तक। फिर चर्चा घूम-फिरकर तुम्हारे 'वो' और मेरे 'वो' के इर्द-गिर्द चक्कर काटने लगती है। औरतें जरूर मेरे 'वे' के बारे मे बाते करेंगी, खोद-खोदकर व्यक्तिगत परतें उधेड़ेगी ऐसे मे, मैं कब तक बचूँगी अपनी उदासीनता जाहिर करने से ? फिर अनेक बाते हवा में तैरेंगी। यही सोचकर वर्षा औरतो के बीच उठने-बैठने से कतराती। पर औरतों से न मिलने पर हवा मे बातें नहीं तैरेंगी, इसकी कोई गारटी नहीं। लेकिन सबके बीच मे मुजरिम की तरह खड़ी होकर क्यों बयान दे ! फिलहाल कोई भी पूछेगा तो कह देगी कि उन्हें अपनी पत्रिका के दफ्तर मे बैठकर पढने-लिखने का काम रहता है, इसीलिए ड्यूटी से सीधे पत्रिका के दफ्तर चले जाते है। दिवाकर, तुम क्या समझोगे एक नारी के द्वन्द्व को ? खैर, छोडो, अब उन बातो मे क्या रखा है ? तो पत्रिका के दफ्तर वाला बहाना बनाने के बाद भी औरतों मे खुसर-फुसर होने लगी थी। औरतें मुझे देखकर विचित्र मुद्रा से मुस्कराती थी। यह अजब बात है कि हर हालत में औरत ही बदनाम होती है। यदि उसका पति उसकी उपेक्षा करता है तो लोग और विशेषतया औरतें कहती हैं —यही है, जिसका पति उसे 'मुँह नहीं लगाता' और यदि औरत-मर्द की उपेक्षा करती है। तो वे कहती है कि यही है जो अपने मर्द की परवाह नहीं करती या जिसने अपने मर्द को छोड़कर कहीं और साँठ-गाँठ कर रखी है।

वर्षा को तो लगता है कि औरत की सबसे बड़ी शत्रु औरत ही होती है, वही दूसरी औरत का हक छीनती है, वही चारों ओर उसकी बदनामी करती है। रस ले-लेकर उसके भीतर से कुरूपता के काल्पनिक स्तर उभारती है और चौपालो में बैठकर औरत, औरत के खिलाफ क्या कुछ नहीं करती। कभी सास बनकर, कभी ननद बनकर, कभी बुआ बनकर और कभी बहू बनकर वह दूसरी औरत पर चोट

करती है उसकी जिन्दगी में जहर घोलती है।

कुछ दिन बाद पड़ौस की एक औरत वर्षा के घर आने-जाने लगी थी—मिसेज शुभा वर्मा। उसके पति टेलीफ़ोन-आपरेटर थे। मिसेज शुभा वर्मा बडी मिलनसार, मधुर स्वभाव की और सुन्दर महिला थी। आते ही चुहलबाज़ी करती। जब तक वह रहती, वर्षा का समय ठीक से गुजर जाता। धीरे-धीरे वह वर्षा के अकेलेपन में पैठने लगी। उसने जान लिया कि दिवाकर उसकी उपेक्षा करता है। शुभा उसके प्रति सहानुभूति दिखाती। पहले तो वर्षा को अच्छा लगा किन्तु बाद में वह सहानुभूति डंक मारने लगी। शुभा वर्मा जितनी सुन्दर थी उतनी ही सजधज कर रहती थी।

शुभा वर्मा के बार-बार आग्रह पर वर्षा उसके घर गयी। दोपहर का समय था। वह उनके घर का स्तर देखकर चकित रह गयी। एक टेलीफ़ोन ऑपरेटर के घर का इतना ऊँचा स्तर! शुभा, उसके मिस्टर, दो बच्चे, टेलीफ़ोन ऑपरेटर का वेतन और घर में इतना सामान। रोज-रोज शुभा वर्मा के तन पर नयी-नयी साड़ी! वर्षा ने सोचा—हो सकता है इनके पतिदेव घर के आसूदा हों।

कुछ देर बाद एक सुन्दर-सा युवक दरवाजे पर आकर खड़ा हो गया और बड़ी अदा से मुस्कराकर बोला—'क्या मैं अन्दर आ सकता हूँ?' उसके हाथ में पैकेट था। वर्षा को लगा कि शुभा असमंजस में पड़ गयी। फिर एकाएक सँभलकर बोली—'आइये-आइये, मिस्टर अजय!'

'थैंक्यू' कहकर वह बडी अदा से भीतर आ गया। वह वर्षा को घूर-घूरकर देखने लगा। वर्षा असमंजस में पड़ गयी।

'ये हैं मिस्टर अजय, इन्कम टैक्स-इन्सपेक्टर, मेरे मिस्टर के मित्र हैं। ये हैं वर्षा, हमारी पड़ौसिन और प्रसिद्ध लेखक डॉक्टर दिवाकर की पत्नी।' शुभा बोली।

'अच्छा-अच्छा, आपसे मिलकर बड़ी खुशी हुई।' युवक ने एक ख़ास अदा से हाथ जोड़ दिये। उसका वश चलता तो हाथ मिला लेता।

'वर्षा ने कहा—'धन्यवाद।'

जब तक वर्षा वहाँ बैठी रही, पता नहीं वह क्या-क्या बात करता रहा और अपनी आवारा निगाहों से उसे पीने की कोशिश करता रहा। शुभा वर्मा के साथ तो बहुत बेतकल्लुफ़ी से पेश आता रहा। वर्षा को यह सब इतना अश्लील लगा कि वह उठ खड़ी हुई।

'अरे, कहाँ चली आप?' कहते हुए दोनों भी उठ खड़े हुए।

'बस, बहुत समय लिया आपका। भाई साहब पता नहीं किस काम से आये हैं, आप इनसे बात कीजिये।' कहकर वर्षा कमरे से निकल पड़ी। शुभा वर्मा उसे छोड़ने बाहर तक आयी। 'अच्छा वर्षा, फिर आऊँगी। कहकर शुभा वर्मा मुड़कर

चली गयी।

वर्षा ! इतनी आत्मीयता से शुभा वर्मा द्वारा वर्षा कहा जाना उसे खलने लगा। उसने चाहा, शुभा वर्मा से कह दे कि वह मुझे श्रीमती वर्षा कहा करे। वह सोचने लगी, कह दूँगी कभी। अरे, मैं घर की चाबी तो शुभा की मेज पर ही छोड आयी ! चाबी लेने के लिए लौटी तो कुछ दूर से ही देखा कि दरवाज़ा बन्द हो गया था। वह असमंजस में पड़ गयी। क्या करे ? पैरों की आहट किये बिना बरामदे में गयी। चाहा कि हल्के से दरवाजे को ढकेलकर देखे कि खुला है या बन्द है। तब तक वह अजय की आवाज सुनकर चौक पड़ी और शर्म में गड़ गयी।

वह पूछ रहा था—'यह कौन चिड़िया थी भाभी ?'

'बता तो दिया, पड़ोसिन है। यह तो बताओ कि पैकेट में क्या है ?' शुभा का खिलखिलाता स्वर गूँज उठा।

'तुम बूझो तो जानूँ।' और तभी वर्षा को लगा कि शुभा को अजय ने गोद में भरकर चूम लिया।

'कुछ भी हो, लाओ दो न !' शुभा की वाणी में लड़खड़ाहट थी।

'लो देखो।'

'अरे वाह, इतनी सुन्दर साडी ?'

'तुमसे अधिक सुन्दर तो नहीं है, प्यारी। लेकिन पहले यह बताओ कि वह चिड़िया तुम्हारे यहाँ कैसे आने लगी है ? तुम इसे कब फाँस रही हो ?'

'धत्, क्या मुझसे तुम्हारा मन भर गया ? नयी-नयी चीज देखकर ललचाना मर्दों की आदत है।'

'देखो प्यारी, तुम्हारा महकता रूप क्या कभी बासी होने वाला है, लेकिन फिर भी जरा मन बहलाव के लिए'''हाँ, तो बताओ, क्या तुम सचमुच उसे हमारे लिए'''? मैं तुम्हारा रेट दुगना कर दूँगा।'

'उसे फाँस तो नहीं रही प्यारे, वह बहुत भली लड़की है। उससे तो पड़ोसी होने के कारण यूँ ही थोड़ा सम्बन्ध बना लिया है। लेकिन हाँ, वह फँस सकती है, अपने पति द्वारा उपेक्षित है, उसका पति बेचारी को पूछता ही नहीं।'

'फिर तो बात बन जायेगी। मेरे आने के समय पर उसे दो-चार बार अपने यहाँ लाओ, आगे तो मैं उसे चक्कर खिला ही दूँगा।'

यह सब सुनते ही वर्षा को इतना गुस्सा आया कि वह लात मारकर किवाड तोड दे और दोनों को चप्पलों से पीटना शुरू कर दे। पर घर की चाबी ! चाबी तो लेनी ही है।

वर्षा पीछे हट आयी और फिर दूर से चप्पल द्वारा ज़ोर-ज़ोर से आवाज़ करती हुई दरवाज़े की ओर बढ़ने लगी। फिर दरवाजे के बाहर से ही आवाज लगायी—'मिसेज वर्मा, आपके टेबुल पर मेरी चाबी छूट गयी है।'

कमरे के भीतर से कुछ हड़बड़ाहट की आवाज आयी। दरवाजा थोड़ा-सा खोलकर शुभा ने हाथ बाहर बढ़ाकर चाबी दे दी और वर्षा जल्दी से घर लौट आयी।

वह सोचने लगी, हे भगवान, कैसी औरत है यह ! इससे तो मिलना-जुलना भी खतरनाक है। दिवाकर, तुम्हारी उपेक्षा मुझे दुनिया की निगाह में कहाँ तक ले जायेगी, मैं नही जानती।

वर्षा अब शुभा वर्मा से मिलने से कतराने लगी। वह बार-बार आती, वर्षा कोई न कोई बहाना बनाकर उसके पास से उठ जाती या दरवाजा ही नही खोलती। उसने कई बार वर्षा को अपने घर बुलाया लेकिन वह फिर कभी उसके घर नही गयी। वह, ऐसी औरत को नाराज करने का परिणाम भी जानती थी। लेकिन उसे खुश करके तो वह अपना सर्वस्व ही गँवा बैठती।

दिवाकर का घर आना और भी कम हो गया। अब तो वह तीन-तीन दिन गायब रहने लगा। वह मुक्ता के प्यार मे उलझता गया। वर्षा को जैसे घुन लग गया। दिन-रात घर मे अकेली, कितनी दहशत, कितना भय···। सोते-सोते वर्षा सपने मे जाग पड़ती।

उसकी आँखें सामने दूर तक चली जाती और सीधी-सपाट सड़क पर टिक जाती। अँधेरे के बावजूद सड़क चमक रही होती, किसी विधवा की सूनी उजली माँग की तरह।

इस सड़क के साथ उसके अहसासो का सम्बन्ध तब से जुड़ा है, जब से वह इस नये बँगले मे आयी है। वे अहसास ही तो हैं, जिनके कारण वह रोज यहाँ बैठने, खड़ी रहने, टहलने और सड़क की ओर ताकते रहने के लिए मजबूर है। एक आस बँधी रहती है कि बस दिवाकर का स्कूटर आने ही वाला है। उसे दूर से ही पता चल जायेगा। फिर उधर की ओर आने वाला हर स्कूटर आसरा दिलाता 'बस उसी का है।' सामने तक आने के बाद जब वह ठीक गेट के पास अँगूठा दिखाता-सा मोड़ की ओर मुड़ जाता, तब वर्षा का रुँआसा मन बिफर उठता भीतर ही भीतर। वह कसमसा उठती।

छह, सात, आठ ··और कभी-कभी दस-ग्यारह भी बज चुकते। कॉलोनी के घरो मे खिड़कियों से झाँकता हुआ प्रकाश बुझने लगता। चारों ओर घिर रहे अँधेरे के साथ-साथ···अँधेरा और अधिक गहन हो जाता। सड़क के उस छोर तक टिमटिमाती बत्तियो के धूमिल प्रकाश की तरह उसके हृदय मे भी कोई आशा झिलमिलाती रहती। जिससे बँधी वह बैठी रहती···ताकते रहती···अकेले।

थोड़ी देर टहलती, फिर बैठ जाती। सामने आ रही गाड़ियो की हेड-लाइट देखकर हिसाब लगाती···यह ट्रक है ? मोटर साइकिल या स्कूटर ? हाँ स्कूटर, शायद दिवाकर का स्कूटर···हाँ शायद···।

और वह मोड़ उसकी अनुभूतियों का उपहास-सा करता हुआ गाड़ी को अपनी ही ओर आकर्षित कर लेता। वह देखती रह जाती ठगी-सी, बेबस, निरुपाय और असहाय···।

उस रात वर्षा सो नहीं सकी। विचारों के उथल-पुथल में भटकती रही। उसकी समझ में नहीं आ रहा था कि क्या करे ? लेकिन कुछ तो करना ही पड़ेगा···। अपने मैके ही चली जाये ? नहीं, उससे क्या होगा ? आत्महत्या···नहीं, वह भी उससे नहीं हो सकेगा। फिर···? सुबह होते-होते सूरज की किरणों के साथ एक विचार फूटा और वह बिस्तर से उठकर व्यस्त हो गयी।

सूटकेस में अपने कुछ कपड़े रखे और दिवाकर के पत्रिका कार्यालय में पहुँच गयी। दिवाकर अकेला था। मुक्ता शायद अभी नहीं आयी थी। वर्षा को वहाँ देखकर दिवाकर हड़बड़ा गया और बोला—'वर्षा, तुम यहाँ ?'

वर्षा ने जाते ही कहा—'मैं अब सदा के लिए आपके पास से जा रही हूँ। अब इस नरक में और अधिक नहीं रहा जाता और न आपके झूठ का बोझ सहा जाता है। मैं आपको जाने की सूचना दूँ, इसका भी अधिकार आप खो चुके हैं। लेकिन भगोड़े की तरह आपके यहाँ से नहीं जाना चाहती। आख़िर मैं आपकी पत्नी हूँ न, इसलिए घर की चाबी देकर जाना मेरा फ़र्ज़ होता है। लीजिये चाबी और अपना घर सँभालिए।'

'कहाँ जा रही हो वर्षा···?'

'जो कुछ आपने किया, अपनी मर्ज़ी से किया। अब मुझे भी अपनी मर्ज़ी से जो चाहूँ, करने का अधिकार है। मैं आपके प्रश्न का उत्तर देने के लिए विवश नहीं हूँ···' कहकर वर्षा ने चाबी दिवाकर के टेबुल पर फेंक दी और मुड़कर जाने लगी तो दिवाकर ने आगे बढ़कर उसकी बाँह थाम ली। ●

कुवड़ी

□

ओम् पुरोहित 'कागद'

आज तीसरे दिन भी संगीता घर से बाहर नहीं निकली। अपने कमरे में पलंग पर रजाई ओढ़े सुबकती रही। मम्मी कमरे में ही चाय-नाश्ता दे जाती। नाश्ते के बाद दिन में कुछ न लेने पर अड़ी रहती। घर वालों के नोहरों का उस पर कोई असर नहीं होता। कमरा बंद होने के बाद तभी खुलता जब वह खुद चाहती।

तीसरी रात उससे काटे नहीं कट रही थी। आँखों में टपकता पानी रजाई को गीला किये जा रहा था। वह ज्यों-ज्यों सोचती त्यों-त्यों आँखें तरल होती जाती।

उसे याद आता जुलाई का वह दिन जब वह पहली बार कॉलेज गई थी। चारों तरफ लड़के ही लड़के, लड़कियाँ ही लड़कियाँ। सब स्वच्छन्द, बेफिक्र। कोई ऊँच-नीच नहीं, ना कोई भेद-भाव। पहले दिन की ऐसी कल्पना भी नहीं की थी संगीता ने। पहले ही दिन खूब सहेलियाँ बन गईं। लड़कों की दोस्ती का पहला अनुभव भी पहले ही दिन मिल गया। कॉलेज का यह पहला दिन इतना स्वर्णिम लगा कि, पारिवारिक औपचारिकताएँ भूलने लगी। बोले तो जीभ पर कॉलेज के मीठे अनुभव, न बोले तो मन में कॉलेज की मीठी गुदगुदी।

संगीता जन्म से कुबड़ी थी। उसकी कूबड़ के बारे में ताऊजी कहा करते है, 'तेरी माँ सूरबारी है। जब तू पेट में थी तब तेरी माँ पेटीकोट का कमरबंद कसकर बाँधती थी—इसीलिए तेरी रीढ़ का हाड़ माडे के कसाव से टेढ़ा हो गया।'

वह मुँहफट व चचल तो थी ही। ताऊजी की इस बात को सुन वह माँ को बुरा-भला कह डालती। माँ से साफ कह देती, 'तूने अपनी मूर्खता से मेरा जीवन नरक बना दिया—अनपढ़ों के घर में तो जन्म लेना ही अभिशाप है।' बेचारी भोली माँ उसके इस ताने को सुनकर आँसू बहाती रहती। वह खुद इस बात से दुःखी थी कि, इस विकलांग के हाथ पीले कैसे होंगे? यही सोचकर घर वालो ने उसे खाने-पीने, उठने-बैठने, बोलने-टोकने, घूमने-फिरने की खुली आजादी दे रखी थी। संगीता ही इस परिवार की एकमात्र लड़की थी जो कॉलेज गई थी। खुला लाड़-प्यार, खुला हाथ एवं परिवार में सबसे अधिक पढ़ी लड़की होने के घमण्ड

ने उसे तुनक मिजाज बना दिया। वह न तो किसी से सीधे मुंह बात करती और न जवाब ही देती।

कॉलेज में आकर उसने एक अलग ही माहौल पाया—आजादी ही आजादी। लड़की से बोलो चाहे लडकों से; एक सी ही बात। वह इस महौल मे बहुत प्रसन्न रहने लगी। घर वालों के नाक में दम करके उसने अच्छे से अच्छे कपड़े सिलवा लिए। पाउडर, क्रीम, नेल पॉलिश का भी शौक चर्राया। अब वह कॉलेज बन-ठन-कर जाने लगी। वह हमेशा तीन-चार लड़कियों के झुंड के साथ रहती। यह लड़-कियाँ उसके पड़ौस मे ही रहती थी। सब चंचल व शरारती थी। हर समय हँसती रहती—हर लड़के-लडकी से मजाक करती रहती। फब्तियाँ कसने में भी वे माहिर हो चली थी। संगीता भी इन सब हरकतो मे शामिल रहती।

पड़ौस के तीन-चार लड़के हमेशा उनके पीछे रहते। सिटी बस मे पीछे, कॉलेज में पीछे तथा पीरियड बदलते समय भी पीछे। कॉलेज की छुट्टी के बाद वे उनके घर तक उन्हें छोड जाते। संगीता को यह सब अच्छा लगता। उसे माँ की बात याद आ जाती, 'इस कुबड़ी से कौन शादी करेगा?—घोड़ी-सी; सारी उम्र यहीं डोलेगी।' यादों के भँवर से निकलते ही हँसकर गर्दन झटका देती संगीता—'मूर्ख माँ!'

कॉलेज की पढाई के आधे दिन निकल गए। उसकी तीनो सहेलियों को ब्वाय फ्रेंड मिल गए। संगीता को इस बात की भनक भी नहीं पडी। कॉलेज के लॉन मे जब वे चारों टहलती तो वे तीनो लडके फब्तियाँ कसते, 'हाय, क्या चाल है! क्या फैशन है!! क्या रंग-रूप है!!! जी करता है ऐसे कर लूँ। वैसे कर लूँ। वे चारो उनकी फब्तियाँ सुनकर मुस्कराती रहती तथा अपनी तरफ से भी 'हाय, हैल्लो!' कर देती। यह क्रम आगे बढ़ा तो पत्र आने लगे। पत्र के बाद 'मिलन' होने लगा। एक-एक सहेली अपने-अपने ब्वाय फ्रेंड के साथ अलग-अलग रहने लगी। संगीता अब अकेली पड़ गई। उसे उनके 'मिलन' का भी पता चल गया।

संगीता ने भी अपने ब्वाय फ्रेंड की कल्पना कर रखी थी। उसने आज तय कर लिया था कि वह चलाकर उसे 'हैल्लो' करेगी। प्रेम करते हैं, पहल चाहे कोई करे—क्या फर्क पड़ता है? आज वह घर से बन-ठनकर आयी थी। दो सहेलियों के साथ घर से निकली तो पीछे-पीछे उनके भँवरे निकल पड़े। उन्होंने हमेशा की तरह घर से लेकर सिटी बस तक पीछा किया।

तीनो सहेलियाँ कॉलेज के लॉन की तरफ बढ़ी तो उनके तीनों चहेते भी उनके पीछे हो लिए। संगीता ने यही देखने के लिए पीछे मुड़कर कनखियो मे से देखा। उसका मन नाचने लगा। उसने अपने कदम रोक लिए। वे रफ्तार धीमी होने से उससे आगे निकल गए। अनिल उदास-उदास सा ढीले कदमो से उनमे शामिल था। लड़के आगे बढ़े तो उन्हें अपनी गर्ल-फ्रेंडस मिल गयी। सजय और

विजय अपनी-अपनी गर्ल-फ्रैन्डस से बतियाते आगे बढ़ गए। अनिल अकेला छूट गया। संगीता को यह भला लगा। वह तेज-तेज डग भरती अनिल के पास पहुँच गयी।

'हैल्लो अनिल !'

'···हैल्लो !'

'आओ चलें कैंटीन में कॉफी पीते हैं—जरूर तुम्हारा सिर भारी है।'

'···न···न···नही—बस, इच्छा नही है।'

'आओ ना यार !' संगीता उसकी बाँह थामकर कैंटीन मे ले गयी। कैंटीन खचाखच भरी थी। कम से कम तीस जोड़े और बीस एकल। संगीता अनिल को लेकर एक मेज पर बैठ गयी। कॉफी का आर्डर देकर वे बतियाने लगे।

बहुत देर तक इधर-उधर की बातें चलती रहीं। बात मुद्दे पर नही आ रही थी। संगीता ने इसे अनिल की झिझक समझ पहल कर दी।

'मैं तुमसे प्यार करने लगी हूँ अनिल।'

'हूँ···!' अनिल ने ठंडी साँस छोड़ी।

'मैं तुम से पहले भी मिलने वाली थी। मगर हिम्मत नही बँधी। आज साहस जुटाया और तुम्हारे करीब आ गयी।

'करीब !'

'तुम जब-तब मेरा पीछा करते हो, फिकरे कसते हो मुझे बहुत अच्छा लगता है। चाहती हूँ कि, तुम्हारी बस, तुम्हारी ही बनकर रहूँ। तुम कहो तो घर छोड़ दूँ। सच, मुझे तुमसे बहुत···है।' संगीता भावनाओं में बहती चली गयी और उसने अनिल का हाथ अपने हाथों मे लेना चाहा। मगर अगले ही पल, वही हाथ उसकी कनपटी पर आ पड़ा। सारा हॉल चौंक गया। हर नजर अनिल और संगीता को घूर रही थी। सब आश्चर्यचकित थे कि, अभी-अभी तो मीठी-मीठी बातें हो रही थीं, अचानक यह क्या हो गया !

'शक्ल देखी है अपनी कभी आइने में? चली है इश्क लड़ाने। कुबड़ी-कुबजा कहीं की—मेरी अक्ल निकल गयी है क्या? आइन्दा इस तरह की हिमाकत मत करना। मैं तो क्या, इस पूरी धरती पर तुझ पर कोई थूकेगा तक नही—समझी !'

'मगर तुम मेरे पीछे···?'

'यह तुम्हारी गलतफहमी है। मैं तो सिर्फ···मेरा दिमाग खराब है जो तुम्हारे जैसी कुबड़ी को गले मे डाल लूँगा।'

संगीता का मुँह लटक गया। न वह रो सकी और न बोल सकी। एक झटके से खड़ी हुई और तेज कदमों से कैंटीन से बाहर निकल गयी।

वह दिन और आज का दिन; संगीता अपने कमरे मे बंद है। उसके आँसू थमने का नाम नही ले रहे। वह सोच रही थी—'क्या मेरे जीवन मे यही बदा है? क्या

होगी मेरा ? क्या मैं कभी घर बसा पाऊँगी ?' वह इन सवालों के भँवर में फँसी थी कि, पिताजी की कानफाड़ दस्तक उसके कानों में पड़ी।

'किवाड़ खोल बेवकूफ ! हम नौकर नहीं जो तेरे आगे-पीछे घूमते रहें। सीधी बाहर आ जा, वरना किवाड़ तोड दूँगा'''कुबड़ी-कुबजा के नखरे तो देखो !'

'बाळणजोगी के पदमणी समझे आपको ! कही ब्याह नही होणा, अर जो हो भी गया तो हाड खळकाइजेंगे सासरे मे। गोबर-पोठा, चूला-चाकी आळा सासरा मिलेगा राँड नैं।' माँ ने भी फुफकारते हुए कह सुनायी।

आगे और जड़ दिया—'अब ऐसे दुःख देती है फेर वैसे देगी—तीन जहान की दाळद।'

संगीता ने आँखें पोंछी और पलंग से उतरकर किवाड़ खोल दिये। आँखें लाल और बाल बिखरे हुए थे। वह भूतनी-सी लग रही थी। माँ को उस पर गुस्सा आ गया। उसने आगे बढ़ उसका झोटा पकड़कर एक थप्पड़ जमा दिया—'दु.ख देवणी बाळण जोगी, चल जा, कॉलेज नहा-धोकर ! तीन जहान की मैल ना होवें तो !'

संगीता कुछ ना बोली। वह यन्त्र-संचालित सी बिना नहाए-मुँह धोए घर से निकल पड़ी। घर के सब लोग उसकी चिन्ता किये बिना काम मे लग गये। माँ ने जरूर कहा था, चोखो, जे कुओ खाड कर लैं तो।'

शाम को जब संगीता घर लौटी तो उसके हाथ मे एक छोटी-सी पोटली झूल रही थी। वह सीधी अपने कमरे में चली गयी। माँ से रहा न गया। उसने आगे बढकर पूछ लिया।

'यह क्या है ?'

'खाना।'

'कहाँ से लायी ?'

'मालकिन ने दिया है।'

'कौन-सी मालकिन ?'

'मेरी मालकिन। मैंने नौकरी कर ली है। अब न तो मेरे हाथ पीले करने की जरूरत है न नखरे उठाने की। मैं खुद अपना भार उठाऊँगी। मालकिन कह रही थी, पहनने को कपड़े भी देगी।'

'लेकिन यह सब बिना पूछे क्यो किया ?' पिताजी ने आँखो में आँसू लाते हुए पूछा।

'पिताजी, इस दुनिया मे कौन कब किसी से पूछकर कुछ करता है ? मैंने कर लिया तो इसमे बुराई क्या है ?'

'लेकिन'''?'

'अब मैं आपसे कैसे पूछ सकती हूँ कि, आपने बिना हालात का जायजा लिए

जहर भरे बोल क्यों दाग दिये मुझ पर···यारी दस्तक क्यों दी ?···और कैसे पूछूं कि माँ कुँआरी बेटी को ससुराल के ताने क्यों दिये तुमने ?···और···और कैसे पूछूं कि···?···और माँ पूछूं तुमने अपने पेटीकोट का बंध कसकर क्यों बांधा ?···और···और···और बांधा तो उसमें भला मेरा क्या दोष···अपने बंध-बांध तुम खोलो-कसो और कूवड़ मेरी निकालो···कहाँ का न्याय है यह, बोलो ?" इसके बाद वह कुछ न बोल सकी। सुबक पड़ी। भागकर वह पलंग पर लुढ़क गयी। किवाड़ फिर बंद हो गये। माँ यह सब अवाक्-सी देखती रह गयी। पिताजी, चश्मे के शीशे साफ करते हुए आँखें मूंदकर वहीं बैठ गये। •

महके सपन गुलाब से

□

चन्द्रकला पारीक

दिन भर एक अनाम उदासी उसकी आँखों में छायी रहती है और वह बगल में लेटी हुई नवजात बच्ची को एकटक देखती रहती है। बच्ची को थपकी देकर सुलाने-सहलाने के सिवा उसके पास और कोई काम नहीं रहता। तीन दिन से लगातार इसी अनिवार्यता में जुटी रहती है वह। तीन दिन से उसकी खैर-खबर लेने या बच्ची का मुँह देखने कोई नहीं आया है। नर्स आती है इन्जेक्शन दे जाती है। डॉक्टर आता है, बैड से लटकता चार्ट देखकर चला जाता है। बहादुर आता है, दलिया-खिचड़ी देकर लौट जाता है। लेकिन सास, ससुर, ननद, देवर में से कोई भी तो नहीं आया उसका पता लेने। स्वयं सूरज भी नहीं आये अपनी बच्ची का मुँह देखने। एक अनवरत प्रतीक्षा और अनाम उदासी में डूबी रहती है वह दिन भर।

कभी-कभी एक पिशाच-भय उसके चौतरफ फैल जाता है। उसे लगने लगता है कि वह रीत रही है, दिन-प्रतिदिन खाली होती जा रही है। चेहरा झुर्रियों से भर गया है। आँखों के नीचे गड्ढे पड़ गये है, जैसे अभी से बुढ़ापा उसकी देह में उतर आया है। शरीर के निरन्तर शिथिल होते जाने का अहसास उसे आतंकित करता रहता है। अभी उसकी उम्र ही कितनी है। सत्ताईस वर्ष की ही तो हुई है वह। सत्ताईस साल की उम्र तो भरी जवानी की उम्र होती है, बुढ़ा जाने की नहीं। यह ठीक है कि इस उम्र तक आते-आते बचपन जैसी चंचलता नहीं रहती, चहकना-फुदकना नहीं रहता, लेकिन दिन तो ये युवावस्था के ही होते हैं। इस उम्र में कोई अपने आपको बूढ़ा समझने लगे, तो यह उसके चुक जाने का प्रमाण है।

आदमी बूढ़ा तभी होता है, जब वह मानसिक रूप से अपने आपको बूढ़ा समझने लगे। लेकिन सुधा तो न केवल मानसिक रूप से बल्कि शारीरिक रूप से भी पूरी तरह टूट चुकी है। उसे लगता है कि अब वह पहले जितनी सुन्दर और आकर्षक नहीं लग रही है। उसका तन और मन दोनों जर्जर हो चुके हैं।

सूरज की भी अब उसमें कोई रुचि नहीं रही है। अब उनकी आँखों में पहले की तरह, प्यार की पवित्र चमक दिखाई नहीं पड़ती। दूसरी बच्ची के जन्म पर तो उन्होंने दबी जबान से कह दिया था, 'हर बार लड़की, मेरा सपना न जाने तुम

कब···।' इससे आगे वह कुछ नहीं बोले थे। लेकिन सुधा साफ़ समझ गयी थी कि वह क्या कहना चाहते हैं। उनके मन के भावनाओं को वह जान गयी थी। उसे लगा था कि दूसरी लड़की के जन्म के साथ ही वह अपनी उम्र से दस साल बड़ी हो गयी है। उस दिन वह रोयी थी। मन को हल्का करने के लिए जी भरकर रोयी थी। उस दिन पहली बार उसने महसूस किया था कि जवानी की दहलीज लाँघकर वह बुढ़ापे की चौखट पर दस्तक दे रही है।

इस प्रकार असमय चुक जाने का कारण जब वह खोजने लगती है, तो पाती है कि तीन लड़कियों की वजह से ही वह इतनी जल्दी इस हालत में पहुँच गयी है। तीन लड़कियों को जन्म देने के कारण परिवेश से मिलने वाली घृणा और स्वयं में उत्पन्न होने वाली आत्म-ग्लानि ने ही उसे इस सीमा तक तोड़ डाला है।

'घर भर दिया लड़कियों से, इससे अच्छा था बाँझ ही रह जाती···' अतुला के जन्म पर सास ने कहा था और ये शब्द तेज छुरी की तरह उसके कलेजे में उतर गये थे। 'बेचारे सूरज की कमर तो इन लड़कियों को ब्याहने-समेटने में ही टूट जायेगी।' और सुधा तड़प उठी थी यह सुनकर। वह समझ नहीं पायी थी कि इस सब में वह अपराधिनी कहाँ है? उसका अपना दोष क्या है? लेकिन चुप रही थी वह, व्यंग्य के विष को चुपचाप पी गयी थी। दूसरी लड़की के जन्म पर ही इतना कुछ सुनना, सहना पड़ा था, अब तो···

अब तो तीसरी है यह, सोचकर सुधा काँप उठी थी। एक अज्ञात भय उसके अंदर तक पैठ गया था। तीन दिन और तीन रात इसी पिशाच-भय से अकेली जूझती रही थी वह। कोई भी तो नहीं आया! दीपा और अतुला तक का मुँह नहीं देखा उसने तीन दिन से। न जाने किस हालत में होंगी वे। सूरज उनकी देख-भाल कहाँ कर पाते होंगे? सास को तो उन दोनों के नाम से चिढ़ है, और इस तीसरी के बाद···?

यह एक विकराल प्रश्न था सुधा के सामने। तीसरी बच्ची को गोद में लेकर वह कैसे सामना कर पायेगी सास का। क्या जवाब देगी सुधा उन सबको? कैसे आँख मिला पायेगी सूरज से? सोच-सोचकर उसकी चेतना लुप्त होने लगी। पलकें एक अव्यक्त बोझ से स्वतः ही मुँदने लगीं।

बच्ची के कुनमुनाने से जब उसने चौंककर आँखें खोलीं तो चकित रह गयी वह। अतुला और दीपा के बीच में खड़े सूरज एकटक उसकी ओर देख रहे थे। दोनों लड़कियों ने साफ धुले हुए फ्रॉक पहन रखे थे। उनके बाल बड़े जतन से बनाये गये थे, उन पर लाल रिबन के गोल फूल ताजा गुलाबों का भ्रम पैदा कर रहे थे। दोनों के माथे पर हरे रंग की नन्ही बिंदियाँ थीं और छोटी-छोटी कलाइयों में बैंगनी काँच की कटावदार चूड़ियाँ। हाथों में फूलों के गुलदस्ते थामे दोनों निश्छल मुस्कान बिखेर रही थीं।

सुधा का रुद्ध कंठ फूट पड़ा, 'अतुला तुम, दीपा तुम···?'

'और मैं सूरज भी ?' सूरज ने शरारत में मुसकराते हुए कहा, 'और तीसरी का नाम हमने तय किया है बिन्दु याने सुधा बिन्दु। अब तुम कोई संशोधन करवाना चाहती हो तो बोलो ?'

अतिरिक्त उल्लास से सुधा की पलकें झुक गयी। भरे गले से बोली, 'मुझे माफ कर दो सूरज। तुम्हारा सपना मैं इस बार भी···' कुछ भी कहने से पूर्व सूरज ने अपनी तर्जनी उसके सूखे होठों पर रख दी। गंभीर स्वर में बोला वह, 'ऐसा मत कहो, सुधा। माफी तो मुझे माँगनी चाहिए थी। तुम्हारा गुनहगार हूँ मैं।'

सुधा विस्फारित नेत्रों से सूरज की ओर देखती रही। वह कहता रहा, 'इन तीन दिन और तीन रातों में बड़ा मानसिक द्वंद्व सहा है मैंने। आत्मसंघर्ष के भयावह दौर से गुजरकर इस नतीजे पर पहुँचा हूं मैं कि कसूर तुम्हारा नही, सारा कसूर तो मेरा है जो कुदरत की इस अमूल्य देन को आनन्द और अहोभाव के साथ स्वीकार नही कर पाया। तीन दिन के निरन्तर अंतर्द्वंद्व और चिन्तन के बाद मैं समझ पाया हूँ कि लडके और लडकी में कोई अन्तर नही। दोनो ही प्रकृति प्रदत्त सुन्दर फूल हैं—एक रूप, एक रंग और एक सी महक बिखेरते हुए। तुम्हारे साथ बहुत क्रूर उपहास करता रहा मैं—बार-बार तुम्हें अग्नि-परीक्षा की घडियो मे डालकर। मुझे माफ करोगी, सुधा ?'

सुधा अवाक् रह गयी। कुछ कहे वह, उससे पूर्व ही दीपा ने फूलो का गुलदस्ता उसके गालो से छुआ दिया और कहा, 'ताजे फूल मम्मी के लिए', 'और ये अतुला की ओर से।' कहकर अतुला ने गुलदस्ता सुधा के सिरहाने रख दिया। 'और ये पापा की ओर से अपनी प्यारी-प्यारी गुड़िया के लिए', कहकर सूरज ने एक छोटा-सा बेबी फीडर बिन्दु के होंठों से लगा दिया। वह नन्हें-नन्हें होंठो से चुस्-चुस् करती हुई दूध पीने लगी।

सुधा को लगा जैसे वह खुली आँखो से कोई सपना देख रही है। शब्द जैसे उसके गले में आकर अटक गये है। भाषा जैसे पगु होकर लड़खडा गयी है। रुंधे गले से इतना ही कह पायी वह, 'सूरज।'

सूरज चुहल भरे स्वर मे बोला, 'जी हाँ, सूरज। और ये है सूरज का संदेश', कहकर उसने कार्ड-शीट का एक छोटा-सा टुकड़ा सुधा के हाथो मे थमा दिया, जिस पर छपे लाल रंग के तिकोन को देखकर सुधा का मुरझाया हुआ चेहरा ताजा गुलाब की तरह लाल हो गया।

कब'''।' इससे आगे वह कुछ नहीं बोले थे। लेकिन सुधा साफ समझ गयी थी कि वह क्या कहना चाहते हैं। उनके मन के भावनाओं को वह जान गयी थी। उसे लगा था कि दूसरी लड़की के जन्म के साथ ही वह अपनी उम्र से दस साल बड़ी हो गयी है। उस दिन वह रोयी थी। मन को हल्का करने के लिए जी भरकर रोयी थी। उस दिन पहली बार उसने महसूस किया था कि जवानी की दहलीज लाँघकर वह बुढ़ापे की चौखट पर दस्तक दे रही है।

इस प्रकार असमय चुक जाने का कारण जब वह खोजने लगती है, तो पाती है कि तीन लड़कियों की वजह से ही वह इतनी जल्दी इस हालत में पहुँच गयी है। तीन लड़कियों को जन्म देने के कारण परिवेश से मिलने वाली घृणा और स्वयं में उत्पन्न होने वाली आत्म-ग्लानि ने ही उसे इस सीमा तक तोड़ डाला है।

'घर भर दिया लड़कियों से, इससे अच्छा था बाँझ ही रह जाती'''' अतुला के जन्म पर सास ने कहा था और ये शब्द तेज छुरी की तरह उसके कलेजे में उतर गये थे। 'बेचारे सूरज की कमर तो इन लड़कियों को ब्याहने-समेटने में ही टूट जायेगी।' और सुधा तड़प उठी थी यह सुनकर। वह समझ नहीं पायी थी कि इस सब में वह अपराधिनी कहाँ है? उसका अपना दोष क्या है? लेकिन चुप रही थी वह, व्यंग्य के विष को चुपचाप पी गयी थी। दूसरी लड़की के जन्म पर ही इतना कुछ सुनना, सहना पड़ा था, अब तो'''

अब तो तीसरी है यह, सोचकर सुधा काँप उठी थी। एक अज्ञात भय उसके अंदर तक पैठ गया था। तीन दिन और तीन रात इसी पिशाच-भय से अकेली जूझती रही थी वह। कोई भी तो नहीं आया! दीपा और अतुला तक का मुँह नहीं देखा उसने तीन दिन से। न जाने किस हालत में होंगी वे। सूरज उनकी देख-भाल कहाँ कर पाते होंगे? सास को तो उन दोनों के नाम से चिढ़ है, और इस तीसरी के बाद'''?

यह एक विकराल प्रश्न था सुधा के सामने। तीसरी बच्ची को गोद में लेकर वह कैसे सामना कर पायेगी सास का। क्या जवाब देगी सुधा उन सबको? कैसे आँख मिला पायेगी सूरज से? सोच-सोचकर उसकी चेतना लुप्त होने लगी। पलकें एक अव्यक्त बोझ से स्वतः ही मुँदने लगी।

बच्ची के कुनमुनाने से जब उसने चौंककर आँखें खोलीं तो चकित रह गयी वह। अतुला और दीपा के बीच में खड़े सूरज एकटक उसकी ओर देख रहे थे। दोनों लड़कियों ने साफ धुले हुए फ्रॉक पहन रखे थे। उनके बाल बड़े जतन से बनाये गये थे, उन पर लाल रिबन के गोल फूल ताजा गुलाबों का भ्रम पैदा कर रहे थे। दोनों के माथे पर हरे रंग की नन्ही बिंदियाँ थी और छोटी-छोटी कलाइयों में बैंगनी काँच की कटावदार चूड़ियाँ। हाथों में फूलों के गुलदस्ते थामे दोनों निश्छल मुस्कान बिखेर रही थी।

सुधा का रुद्ध कंठ फूट पड़ा, 'अतुला तुम, दीपा तुम···?'

'और मैं सूरज भी ?' सूरज ने शरारत में मुसकराते हुए कहा, 'और तीसरी का नाम हमने तय किया है बिन्दु यानी सुधा बिन्दु। अब तुम कोई संशोधन करवाना चाहती हो तो बोलो ?'

अतिरिक्त उल्लास से सुधा की पलकें झुक गयी। भरे गले से बोली, 'मुझे माफ कर दो सूरज। तुम्हारा सपना मैं इस बार भी···' कुछ भी कहने से पूर्व सूरज ने अपनी तर्जनी उसके सूखे होंठों पर रख दी। गंभीर स्वर में बोला वह, 'ऐसा मत कहो, सुधा। माफी तो मुझे माँगनी चाहिए थी। तुम्हारा गुनहगार हूँ मैं।'

सुधा विस्फारित नेत्रों से सूरज की ओर देखती रही। वह कहता रहा, 'इन तीन दिन और तीन रातों में बड़ा मानसिक द्वंद्व सहा है मैंने। आत्मसंघर्ष के भयावह दौर से गुजरकर इस नतीजे पर पहुँचा हूँ मैं कि कसूर तुम्हारा नहीं, सारा कसूर तो मेरा है जो कुदरत की इस अमूल्य देन को आनन्द और अहोभाव के साथ स्वीकार नहीं कर पाया। तीन दिन के निरन्तर अंतर्द्वंद्व और चिन्तन के बाद मैं समझ पाया हूँ कि लड़के और लड़की में कोई अन्तर नहीं। दोनों ही प्रकृति प्रदत्त सुन्दर फूल हैं—एक रूप, एक रंग और एक सी महक बिखेरते हुए। तुम्हारे साथ बहुत क्रूर उपहास करता रहा मैं—बार-बार तुम्हें अग्नि-परीक्षा की घड़ियों में डालकर। मुझे माफ करोगी, सुधा ?'

सुधा अवाक् रह गयी। कुछ कहे वह, उससे पूर्व ही दीपा ने फूलों का गुलदस्ता उसके गालों से छुआ दिया और कहा, 'ताजे फूल मम्मी के लिए', 'और ये अतुला की ओर से।' कहकर अतुला ने गुलदस्ता सुधा के सिरहाने रख दिया। 'और ये पापा की ओर से अपनी प्यारी-प्यारी गुड़िया के लिए', कहकर सूरज ने एक छोटा-सा बेबी फीडर बिन्दु के होंठों से लगा दिया। वह नन्हें-नन्हे होंठों से चुस्-चुस् करती हुई दूध पीने लगी।

सुधा को लगा जैसे वह खुली आँखों से कोई सपना देख रही है। शब्द जैसे उसके गले में आकर अटक गये हैं। भाषा जैसे पंगु होकर लड़खड़ा गयी है। रुँधे गले से इतना ही कह पायी वह, 'सूरज।'

सूरज चुहल भरे स्वर में बोला, 'जी हाँ, सूरज। और ये है सूरज का संदेश', कहकर उसने कार्ड-शीट का एक छोटा-सा टुकड़ा सुधा के हाथों में थमा दिया, जिस पर छपे लाल रंग के तिकोन को देखकर सुधा का मुरझाया हुआ चेहरा ताजा गुलाब की तरह लाल हो गया।

मकड़ी

□

रघुनन्दन त्रिवेदी

श्री चन्द्रकान्त गर्ग इस वक्त सपरिवार ट्रेन में सफर कर रहे हैं। अभी पन्द्रह दिन पहले भी यह परिवार इसी ट्रेन में ठीक उल्टी दिशा में सफर कर रहा था। वे जो खिड़की से सटे बैठे बाहर के प्राकृतिक दृश्यों का आनन्द ले रहे हैं, वे ही इस परिवार के मुखिया श्री चन्द्रकान्त गर्ग हैं। शायद ही कोई इन्हें इस नाम से पुकारता होगा। अधिकतर लोग इन्हे मिस्टर गर्ग या गर्ग साहब कहकर पुकारते हैं। पूरे नाम का उपयोग मकान के बाहर लगी नेमप्लेट के अलावा केवल कागजो मे ही हो पाता है। मिस्टर गर्ग के सामने वाली सीट पर वह जो महिला बैठी 'सरिता' पढ़ रही है—उनका नाम जयन्ती है। यद्यपि इस नाम का इस्तेमाल सिर्फ मिस्टर गर्ग ही करते हैं। लोगो के लिए तो वे मिसेज गर्ग या बहनजी ही है मिसेज गर्ग की बगल मे कॉमिक्स पढते दोनों बच्चे अतुल और सीमा हैं। अतुल बडा है और सीमा छोटी। परिवार के सबसे छोटे सदस्य का 'सीमा' नाम होना शायद परिवार की सीमा का सूचक है या फिर यों ही। वैसे यह बात मिस्टर और मिसेज गर्ग ही बेहतर जानते हैं, पर वे बताएँगे नही। क्योंकि फिजूलखर्ची में इस जोड़े का कतई विश्वास नही फिर चाहे यह फिजूलखर्ची शब्दों की ही क्यो न हो। मिस्टर गर्ग अमूमन चुप रहते हैं; शायद यही वजह है कि इनकी तरक्की से जलने वाले लोग पीठ पीछे इन्हें 'मकड़ी' कहकर हँस लिया करते हैं। परन्तु अपने इस 'निक नेम' की जानकारी कम-से-कम मिस्टर गर्ग को तो हरगिज नही। खैर।

पन्द्रह दिन पहले मिस्टर गर्ग को ऑफिस में तार मिला था। तार की इबारत कुछ इस प्रकार थी—'मुरली एक्सपायर्ड कम सून—रामदास।' तार पाकर मिस्टर गर्ग एक क्षण भौंचक्के रह गये। मुरलीधर उनके भाई का नाम था और रामदास पिताजी का। तार मिस्टर गर्ग के पिताजी की तरफ से किसी रिश्तेदार ने किया था। मिस्टर गर्ग तार लेकर सीधे बॉस के पास पहुँचे। बॉस ऐसे मामले मे कोई रोड़ा नही अटका सकते थे, लिहाजा छुट्टी मंजूर हो गयी। ऑफिस से छूटते ही मिस्टर गर्ग सीधे बैंक पहुँचे। संयोगवश पासबुक साथ थी, अन्यथा घर जाना पड़ता। बैंक में 'विड्रॉल फॉर्म' भरते हुए मिस्टर गर्ग सोच रहे थे भाई के बार-

हवे तक कम-से-कम चार-पाँच हजार तो निकल ही जाएंगे। पर ज्यादा पैसा साथ ले जाने से क्या फायदा। आखिर भाई का खुद का छोड़ा हुआ पैसा भी तो होगा और फिर उन्होने तीन साल से पेट काट-काटकर पाँच हजार भाई की अर्थी सजाने के लिए थोड़े ही जमा किये थे। आज के जमाने में पाँच हजार होते ही कितने हैं। आता क्या है पाँच हजार मे ? एक स्कूटर भी तो नही, जिसके बगैर छुट्टी के दिन पार्क या सिनेमा जाते कितना 'इनफ़ीरियर' महसूस करते हैं वे। अक्सर इसी बात को लेकर उनकी मिसेज से तनातनी हो जाती है। शुरू-शुरू में वे लोग साइकिल पर ही घूमने जाते थे। परन्तु सीमा के आगमन के बाद चार सवारी साइकिल पर नहीं खटती यो स्कूटर की जरूरत सुविधा से कही ज्यादा 'स्टेट्स' से जुड़ी थी। ऑफिस और पड़ोस में सभी स्कूटर 'मेन्टेन' करते हैं, सिवाय उनके। स्कूटर की चाहत सिर्फ मिसेज गर्ग को ही हो यह बात नही, मिस्टर गर्ग भी चाहते हैं कि वे भी दूसरों की तरह तनकर स्कूटर पर बैठें। जयन्ती की बाँहो का दबाव कंधो पर महसूस करते हुए सर्र से सड़कों पर गुजरा करें जैसे कि पड़ौस वाले मि० अग्निहोत्री गुजरते है अपनी पत्नी के साथ। लेकिन मिस्टर अग्निहोत्री तो पी० डब्लू० डी० मे इंजीनियर हैं और वे खुद सिर्फ सेकण्ड ग्रेड स्टेनोग्राफर। कैसे लिया जाये स्कूटर ? आखिर मिसेज गर्ग ने ही बचत की राह सुझायी। ऊपर की आमदनी घर मे काम लेने की बजाय बैंक मे जमा करवायी जाये। यो मिस्टर गर्ग की ऊपरी आमदनी कोई ज्यादा नही फिर भी दो सौ रुपये महीने का औसत तो बैठ ही जाता है। मिसेज गर्ग की सूझ कारगर सिद्ध हुई। अब तक जो पैसे सिनेमा और कपड़ो मे खर्च हो जाते थे, जमा होते-होते पाँच हजार तीन सौ अट्ठाईस की जमा तक पहुँच चुके थे लेकिन यह भाई की बेवक्त मृत्यु दो हजार तो निगल ही जायेगी। और किया भी क्या जा सकता था। मिसेज गर्ग ने तो पता चलते ही मिस्टर गर्ग से साफ़-साफ कह दिया था—'एक लैटर क्यों नही डाल देते कि ऑफिस मे जरूरी काम है, छुट्टी नही मिल पा रही है। छुट्टी मिलते ही आ जाऊँगा। फिर पन्द्रह-बीस दिन बाद हो आना उधर।'

मिस्टर गर्ग को फिजूलखर्ची पसन्द नहीं, भावुकता भी नही। मरने वाला तो गया, उनके जाने नही जाने से वह तो लौटने वाला नही। पर बात लोगो की थी। लोग क्या कहेंगे ? मरने वाला दूर का रिश्तेदार नहीं; सगा भाई था। 'नही, घर जाना ही होगा। अपने और बच्चों के कपड़े तैयार कर लो'—मिस्टर गर्ग ने सख्ती से आदेश दिया। इस तरह लगभग तनी-तनी मिसेज गर्ग बच्चों के साथ पन्द्रह दिन पहले इसी ट्रेन से ठीक उल्टी दिशा मे सफर कर रही थी। बिल्कुल ऐसा ही लाल-मटमैला, खचाखच भरा ट्रेन का डिब्बा और कूद-फांद करते अतुल और सीमा तब भी साथ थे। मिस्टर गर्ग एक कोने मे दुबके मन-ही-मन पैसे की तंगी का ठीक-सा बहाना तलाश कर रहे थे, गाँव पहुँचकर बाप के सामने अपनी खाल जो

बचानी थी। उनके लिए गाँव का मतलब था—रेतीले कच्चे रास्ते, मैले-कुचैले लोग, माँ-बाप के पीले मुरझाये चेहरे और पहाड़-सी लम्बी दुपहरें, जिनमे करने को कुछ नही होता सिवाय घर के कोने मे पड़े-पड़े बूढ़ों से बतियाते रहने के। शहर की जिस तेज रफ्तार जिन्दगी को वे पसन्द करते हैं, गाँव मे दूर तक उसका कोई नाम नही। दरअसल गाँव जाना एक अनचाही यातना थी जिसे भोगने के सिवाय कोई चारा नही था। इन्ही विचारों की खीझ मिस्टर गर्ग के चेहरे पर तब साफ पढ़ी जा सकती थी। मिसेज गर्ग के विचार अपने पति से अलग नही। वे भी अन-मनी-सी बार-बार बच्चों को डाँट रही थी। बच्चों को ट्रेन मे मजा आ रहा था। वे पापा-मम्मी की चिड़चिड़ाहट का कोई कारण नही समझ पा रहे थे। ट्रेन इसी तरह जगह-जगह रुक रही थी। स्टेशन आ-जा रहे थे। प्लेटफार्म पर चाय, बिस्किट, किताबें-कॉमिक्स और पान बेचने वाले खिड़कियों में झाँकते, हाँक लगाते आ-जा रहे थे। अतुल कॉमिक्स खरीदने की जिद करने पर पिट चुका था और सीमा बिस्किट और पॉपिन्स के लिए। लेकिन यह तो तब की बात है जब पन्द्रह दिन पहले मिस्टर गर्ग सपरिवार ठीक उल्टी दिशा मे सफर करते हुए अपने भाई के अन्तिम सस्कार में शामिल होने गाँव जा रहे थे। लौटती दफा तो ऐसा कुछ भी नही हुआ।

भाई के क्रिया-कर्म से निबटकर चौदहवें दिन मिस्टर गर्ग ने अचानक ही अपने शहर लौटने की घोषणा कर दी। बाप ने रुकने का कमजोर-सा आग्रह किया परन्तु मिस्टर गर्ग के ऑफिस-वर्क और बच्चों की पढ़ाई के आगे ज्यादा कुछ कहने की गुंजाइश नहीं थी। और मिस्टर गर्ग गाँव से रवाना हो गये। रवानगी के वक्त मिस्टर गर्ग अपने बाप से आँखें चुरा रहे थे। भाई का इकलौता बेटा 'रज्जू' ताँगे के पास उपेक्षित-सा खड़ा था उसके हाथ मे दस का नोट ठूँसकर तपाक से बाप के पाँवों तक अधझुके होकर मिस्टर गर्ग ताँगे पर चढ गये थे। रेलवे स्टेशन पहुँचकर मिस्टर गर्ग ने वापसी के चार टिकट खरीदे और इतमीनान से आकर ट्रेन मे बैठ गये। इस वक्त जबकि ट्रेन पूरी गति से अपने गंतव्य की ओर दौड़ रही है, अतुल के हाथ में कॉमिक्स है। सीमा बिस्किट का पैकेट खतम कर चुकी और अब पॉपिन्स चूसते हुए अतुल की कॉमिक्स देख रही है। मिसेज गर्ग 'सरिता' पढ़ रही है। बीच मे वे अपने बच्चों से हँस-बोल लेती है, मिस्टर गर्ग खिड़की के बाहर प्राकृतिक दृश्यों का आनन्द लेते हुए मन-ही-मन राहत-सी महसूस कर रहे हैं। दो हजार की रकम, जो इस सारे सिलसिले मे खतम हो चुकी; अब उन्हें इतनी बड़ी नही लग रही, जितनी बड़ी तब आफत से पीछा छुड़ाकर कोई तीन घंटे पहले वे ट्रेन मे चढ़े हैं, गाँव मे बीते चौदह दिन चौदह बरसों से कम नहीं थे उनके लिए। पर मुँह-अँधेरे ठिठुरते हुए नित्य-कर्म के लिए जंगल की तरफ भागने से लेकर ऊबी-अल-साई दुपहरों तक से वे उतना नही डरे जितना डर उन्हें अपने बाप की आँखों से

लगने लगा था।

भाई के अंतिम संस्कार के तीसरे ही दिन बाप ने अकेले में लगभग गिड-गिड़ाते हुए मुरली के पाँच वर्षीय बेटे रज्जू के सिर पर हाथ फिराते हुए उनसे कहा था—'मुरली तो चला गया, इसका क्या होगा चद्दू ? तुम्ही क्यों नहीं शहर ले जाते इसे भी···? मिस्टर गर्ग की झुकी हुई दृष्टि रज्जू के मासूम चेहरे पर पड़ी और शायद अटक जाती वहीं, पर फिसल गयी। मिसेज गर्ग से बात किये बगैर कोई निर्णय नहीं हो सकता था। फिर अपने बच्चे···महँगाई···स्टेट्स···एक ही पल में सारे विचार आ गये मन में और मिस्टर गर्ग चुप्पी साध गये। उस दिन के बाद लगभग हर रोज उनका सामना अपने बाप से होता था। बाप की आँखों में विचित्र-सी कातरता होती यह कातरता अपने मे एक सवाल लिए होती। और असल में यही सवाल मिस्टर गर्ग के लिए डरावना था। मिस्टर गर्ग इस सवाल से बचना चाहते थे। बाप अपने तईं चुप थे पर यह चुप्पी सिर्फ होठों की थी। आँखें तो तांगे के चलने तक पूछती रही थी उनसे कि मुरली के इस अनाथ बच्चे का क्या होगा ? परन्तु जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है—मिस्टर गर्ग को न तो फिजूलखर्ची पसन्द है, न ही भावुकता।

वे आँखें जो सवाल पूछ रही थी, आहिस्ता-आहिस्ता छूटती जा रही है पीछे, पीछे। मिस्टर गर्ग सपरिवार अपने सफर में है और आदतन चुप है भले ही इस चुप्पी के लिए पीठ पीछे आप इन्हें मकड़ी कहें। ●

बेटी

□

जितेन्द्र शंकर बजाड़

ले बेटी उठ जरा दवा ले ले। त्रिपाठीजी ने बेटी के सिरहाने बैठ उसे सहारा देकर उठाते हुए कहा। यही एक बेटी उनका सहारा है और यही घर की पवित्र धरोहर जिसके लिए वे अपनी पत्नी के सब के सब जेवर बेच चुके हैं। शकुन्तला ने बाबूजी के हाथ का सहारा लिया और धीरे से उठकर बिस्तर पर बैठ गयी। बाबूजी ने तकिया उठाकर दीवार के सहारे जमा दिया और उठकर 'शकु' को दीवार के पास लगे तकिये पर पीठ टिकाकर बिठाने लगे। वे पत्नी को आवाज देना चाहते ही थे कि बाहर से कॉलबेल बज उठी। 'शकु' को ठीक से बैठाकर—'बेटी अभी आया; इस भरी दोपहरी में न जाने कौन आया है माथा-पच्ची करने को', इस तरह बड़बड़ाते हुए कॉरीडोर पार कर दरवाजा खोलने चले गये। दरवाजा खोला तो देखा सामने ऑफिस का चपरासी खड़ा था। चाबी माँगने आया था बोला, 'साहब उत्पल बाबू ने कहा है कि आपके पास जो चाबी है दे दें', सुनकर त्रिपाठी साहब मुड़कर अनमने से उस कमरे में गये जहाँ उनकी पतलून टँगी थी उसी पतलून की जेब में उत्पल बाबू द्वारा मँगाई गयी चाबी पड़ी थी। चाबी चपरासी के हाथ में थमाते हुए बोले, 'उत्पल बाबू अगर मुझे याद करें तो कह देना भाई जरा कि उनकी बेटी की तबीयत ज्यादा खराब है।' क्या करूँ भाई वे ऐसे रूँआसे स्वर में बोले कि चपरासी को दया आ गयी। उनकी बात सुनकर कहने लगा, 'बाबूजी आप फिकर न करें मैं उन्हें ठीक हालत बता दूँगा और अगर मुझसे भी कुछ मदद चाहें तो मैं हाजिर हूँ।' चपरासी की बात सुनकर त्रिपाठी साहब को हिम्मत बँधी, धीमे से हँसे और भीगी पलकों से उसे जाता हुआ देखते रहे, जब तक कि उसकी साइकिल पाँचवें बँगले के मोड़ को पार नहीं कर गयी।

बाहर की घंटी सुनकर 'शकु' की माँ समझ गयी थी कि त्रिपाठीजी से कोई मिलने आया है। इसलिए वह खुद रसोई का काम छोड़ शकु को दवाई पिलाने अन्दर आ गयी। देखा, 'शकु' बैठी है सामने टेबल पर दवा की शीशी और चम्मच देखकर समझ गयी कि शकु खुद ही दवा पी चुकी है। बेटी की 'माँ' के प्रति चिन्ता उसके चेहरे से और उसकी बातों से स्पष्ट मालूम पड़ती थी, कभी-कभी वह बिस्तर

पर पड़ी-पड़ी बड़बड़ाया भी करती थी, 'हे भगवान मेरे माँ-बाप ने ऐसा क्या गुनाह किया है जो उन्हें मेरी दिन-रात सेवा करनी पड़ रही है।' उसकी बातें सुनकर माँ और त्रिपाठी साहब बड़े परेशान होते। कभी-कभी तो उसे यह कहते भी सुनते थे कि, 'माँ मैं मर जाऊँ तो अच्छा होगा।' माँ बेचारी उसकी बातें सुनकर रो पड़ती। मगर करे भी तो क्या आखिर घर की इकलौती और जवान बेटी, उसे भी तो कुछ चिन्ता होगी। घर के काम का बोझ फिर पापा की नौकरी! बचपन में बड़े लाड़-प्यार से पाल-पोसकर बड़ा किया। अच्छे स्कूल से मैट्रिक पास करवाया और शादी के योग्य हुई तो लड़के की तलाश में जुट गये। एक-दो जगह अच्छे वर और घर भी मिले किन्तु उनकी 'महँगी-माँग' को बाबूजी पूरा नहीं कर सके थे। था भी तो सच, करते भी तो कैसे। नौकरी की बँधी-बंधाई तनख्वाह—महँगाई, ऊपर से मकान का किराया, कहाँ से लाते वर को तिलक में पाँच हजार रुपये देने को। आगे दहेज की मार अलग—क्या करते भला बाबूजी।

बेटी के भाग्य में जो लिखा था वही मिला। फिर भी क्या सकते हैं हम, जब भाग्य ही हमारे साथ खिलवाड़ करे। करीब दो-तीन वर्ष की कड़ी दौड़-धूप के बाद एक क्लर्क लड़का मिल गया था। चेहरे-मोहरे और रंग-रूप से ठीक था ही तनख्वाह भी उसकी ठीक थी। लगा था ठीक से गुजर-बसर हो जायेगी।

तुरत-फुरत बात पक्की कर, तीन-चार महीने में ही झटपट शकु के हाथ पीले करके बाबूजी ने बेटी को आँखों में आँसू भरकर विदा किया। लड़के की ख्वाहिशों का ख्याल रखकर जो कुछ बन सका अच्छा-बुरा दिया ही था। कन्यादान करके बाबूजी अब चैन से जीना चाह रहे थे। कि···

मगर जीवन मे चैन कहाँ मिलता है?

शकु को ससुराल गये एक माह ही बीता था कि उसका एक पत्र आया। लिखा था कि पति जुआरी है और रात गये शराब पीकर घर लौटता है तथा बहुत गालियाँ बकता है और आये दिन उसे पीटता भी है। पत्र पढ़कर बाबूजी ने सर पीट लिया। खाना-पीना दुश्वार हो गया और शकु की माँ ने तो रट लगा दी थी कि 'आज ही जाकर मेरी बेटी को ले आओ। न जाने क्या-क्या सुनना पड़ता होगा। घर में लाड़-प्यार से पली और बाहर मार खाये। यह कहाँ की बात है। शादी हुए साल-छह माह भी नहीं बीते कि यह दुःख।' पत्नी की बात सुनकर बाबूजी 'शकु' को ससुराल से ले आये। मगर शकु यहाँ भी कुढ़ती और अपने आपको कोसती रहती थी। उसे इस बात से भारी झटका लगा था कि जिसे उसके माँ-बाप ने बहुत समझदार और शीलवान समझा था वही निकम्मा निकला। सोचती रहती कि बाबूजी को कितने सालों से चिन्ता थी उसकी शादी की, मगर कोई मिला नहीं, अब मिला तो क्या निहाल हुए हैं। पास-पड़ोस वाले क्या सोचते होंगे कि बेटी ही काम-चोर होगी या रंग-ढंग से नहीं रही होगी तभी तो पति ने मारपीट कर घर से बाहर निकाल दिया

उसे। शकु हर वक्त इन्ही चिन्ताओं और विचारों से घिरी रहती। कोई काम सूझता ही नही था, अगर सूझता तो कभी-कभी कर डालती थी। लगता था जैसे वह कई वर्षों से बीमार है। एक-दो बार पति लेने भी आया था मगर खुद 'शकु' ने जाने से मना कर दिया था।

मुँह अँधेरे शकु उठकर बाथरूम मे जाना ही चाहती थी कि रसोई के बाहर पड़ी काँच के गिलास और प्लेट उसकी ठोकर से टूट गये। आँखें मलते हुए चलने से ध्यान भी नही रहा था उसे, कि आगे क्या है। माँ रसोई मे चाय बना रही थी। गिलास और प्लेट फूटने की आवाज सुनकर खरी-खोटी सुनाने लगी। सुबह-सुबह की इस चिड-चिड से शकु भी अपने आपको कोस रही थी। 'एक घर तो उजाड आयी है। अब इस घर का भी सत्यानाश करके छोड़ेगी।' ऐसी कितनी ही बातें गुस्से-ही-गुस्से मे माँ कह गयी थी।

'शकु' दो रोज तक खाना नही खा सकी और बिस्तर पर पड़ी-पड़ी चुपचाप आँसू बहाती रही। बाबूजी बड़े परेशान हुए थे। जब सारी बात सामने आयी तो वे आग-बबूला हो गये और पत्नी को बहुत भला-बुरा कहते रहे। माँ खुद, गुस्सा उतरने के बाद, बडी देर तक शकु को खाने के लिए मनाती रही थी।

तीसरे रोज सुबह जब वह जागी तो देखा कि सर पर हाथ धरे बाबूजी मुड्डे पर बैठे थे, माँ वहाँ नही थी। सोचा कि किचन मे होगी। आज उसे बिना खाये-पिये, दिन-रात रोते हुए, तीसरा दिन था। उसकी आँखो के पपोटे सूज गये थे चेहरे के भारीपन से लगता था वह आज सारी रात सोयी नही थी। शकु खाट से उठ खड़ी हुई। दो कदम भी नही चल पायी थी कि धम्म से फर्श पर गिर पड़ी। गिरने की आवाज सुनकर बाबूजी ने आँखें खोली और हड़बडाकर कुर्सी पर से उठे और उसे सँभालने लगे। वह बेहोश हो गयी थी। बाबूजी की हड़बड़ाहट सुनकर और शकु के गिरने की टोह पाकर माँ किचन से दौड़कर आयी। शकु को बेहोश पड़ी देखकर वह अवाक् रह गयी। बाबूजी ने शकु को उठाकर बिस्तर पर लिटाया। फिर पास के डॉ० वर्मा को बुलाकर दिखाया। उन्होने उसे अस्पताल मे भर्ती कराने की सलाह दी। सात दिन तक अस्पताल में रहने के बाद, आज छुट्टी मिली थी। बाबूजी को भी ऑफिस से छुट्टी लेनी पडी थी आज उसकी हालत थोड़ी ठीक लग रही थी।

आज सुबह से ही शकु बडबडा रही थी 'बाबूजी काश! आपने ही मेरी शादी न की होती कितना अच्छा होता, मुझे बेटा समझकर अपने ही घर मे रख लिया होता।' उसने बड़बडाते हुए बाबूजी से आखिरी बार भी यही कहा था। बाबूजी तो 'शकु' को बेटा समझ सकते थे किन्तु इस बात को गली, मोहल्ला, शहर और समाज कब मंजूर करता भला! पर अब शकु के न रहने के बाद बेटा तो क्या बेटी भी नही रही थी सिर्फ एक पीड़ा रह गयी थी उसके नाम की। •

अगला कदम

सुषमा अग्निहोत्री

खुली छत पर ठण्डी हवा का झोंका पसीने का स्पर्श कर गया। अमरूद, लीची, शहतूत, पीपल, नीम युक्लिप्टिस के पेड़ तो सामने के खेतो और निचले मैदानो मे खड़े होकर भी इस घर की चहारदीवारी से ऊपर इतने ऊँचे उठ गए है कि उनकी डालियों पर हरे पत्तो से सजी-सँवरी टहनियाँ, पत्तों के गुच्छ गुलदस्ते-सी नजर आ रही हैं। सामने दाएँ-बाएँ जिधर भी नजरें घुमाता हूँ हरे-हरे गुच्छ हवा मे तैरते-हिलोरते नजर आ रहे हैं। एक गहरी-सी साँस ले बैठता हूँ पत्तो की हरियाली और गुलदस्तो पर नजरें ठहरती हैं तो दिमाग की तनी नसो का खिंचाव ढीला पड़ने लगता है। और झुरझुरी-सी गले से लेकर छाती और फिर और भी नीचे हाथ-पैरो तक लहर जाती है एकाएक वे आँखें, वह माथा, वह होठ और भी न जाने क्या-क्या सामने आ जाता है। मेरीखुली आँखो मे वह चित्र और मेरे चुम्बन तैरते फिर उनसे निकली कुछ तरलता सी, मस्तिष्क में भरने-झरने लगती है—हरियाली और हरियाली के इतने रंग—कही लालिमा के साथ प्रस्फुटित कोपलें कही हरियाली का अल्हड़ उभारतो कही उसका गहराता रूप कुछगहरा हरा फिर कुछ और गहरा और फिर यह घना, हरा···ऐसी और इतनी हरियाली के बीच बैठा अकेला मैं तथा इस सबको चूमती—झूला झुलाती हुई ठण्डी-ठण्डी हवा···क्या सचमुच जीवन इतनी हरियाली से भरा है···? क्या सच···?···??

काश, जीवन ऐसा होता···?? काश वह आँख, वह पेशानी, वह दिल, उसके हाथो का वह पेन उसकी कहानियाँ और वह खुद, सबकुछ मेरा अपना हो पाता···।

मुझे वह हिमाचल यूनिवर्सिटी मे मिली थी। पर तब, जब मेरा सब कुछ लुट चुका था। यहाँ तक कि मेरा 'मैं' भी मुझसे छीन लिया गया था। मैं अब, मैं नही दूसरो की अमानत और उपभोग की एक वस्तु मात्र बनकर रह गया था। क्या मैं झूठ बोल रहा हूँ ? नही ऐसा मत समझिए। अब आप ही बताइए जब जीवन में कुछ भी अपनी इच्छा का, अपनी रुचि का, यहाँ तक कि छोटे-बड़े किसी भी आइटम मे अपने स्वभाव और ख्वाहिश का लेना, मिलना, माँगना मना हो तो भी क्या आपका 'स्व' सुरक्षित रह पायेगा ? नही, मैं तो ऐसा नही कर सकता। बिना

'मैं' के मैं कैसा···?

जी ! मैं अपना दु:ख कहने-बताने का कतई आदी नहीं कभी किसी को कुछ नहीं बताया। आपको भी बताना नहीं चाहता था पर अब···। बस उसे सुनाया था—वहाँ शिव मंदिर की सीढ़ियों पर बैठकर। जब मेरी आँखें भर आयी थी और उसने मेरी रामकहानी जान ही लेने का मूड बना लिया था।

यूनिवर्सिटी गेस्ट-हाउस में मैं सख्त बीमार हो गया था। नया-नया जॉब—एक लम्बे अरसे के बाद परिवार से एकदम अलग-अकेला फिर वह जानलेवा बीमारी—अल्लाह की पनाह। अधूरे पड़े दायित्वों का बोध प्रश्नचिह्न बन खड़ा हो जाता। सभी सहकर्मी 'यूनियन की मीटिंग' में या किसी पिकनिक स्पॉट पर चले गए। सन्डे था ना, कोई रुकता भी कैसे ? रह गये तो केवल प्रिंसिपल और बस वह मानवी। हाँ वह मेरी प्राणप्रिया है आज, पर तब···। तब तो बस मानवी थी। शनि की वह रात कितनी भयावह थी। सारी रात अकेले सुनसान गेस्ट हाउस के हॉल-नुमा कमरे में मैं अकेला पड़ा तेज ज्वर, दर्द और न जाने क्या-क्या लेकर रात भर छटपटाता रहा था। सुबह लगभग आठ-नौ बजे एकाएक जब वह आई तो बड़ी राहत मिली। उसने मेरी बीमारी की गंभीरता को देख मेरी तीमारदारी का जिम्मा ले लिया तो मुझे लगा जैसे जीवन में नयी लहर दौड़ गयी है। दवा-पानी, परहेज, समय पर पथ्य, यूनिवर्सिटी की क्लासेज सभी कुछ तो जैसे उसका दायित्व बन गया था। सच पूछिए तो मैं दवा लेता ही तभी था जब वह अपने हाथ से देती थी।

सुबह सात बजे तक तैयार होकर मेरे पास पहुँच जाना। फिर नौ साढ़े नौ तक मुझे भी दवा पथ्य देकर क्लासेज के लिए तैयार कर देना फिर शाम को पाँच के बाद से रात—नौ-दस तक मेरी टहल में जुटे रहना फिर कहीं अपने फ्लैट पर जाकर अपने काम निपटाना। कितना व्यस्त जीवन हो चला था उसका। उसकी सेवा-तीमारदारी मुझे उसके इतना निकट ले आई थी कि उसके बिना मैं खुद को अधूरा मानने लग गया था। यदि वह न होती तो शायद मैं तो मिट ही गया होता।

मैं स्वस्थ हुआ तो मन उससे जुड़ना चाह रहा था कौन है यह···? मन में कहीं गहरे एक लालसा चुपचाप जाग उठी···यह मेरी है 'बस' और 'सिर्फ' मेरी। ऐसी ही लालसा किसी 'प्रथम पुरुष' के मन में जागी होगी। यह सुखी रहे···ऊँची उठती रहे···इसे कोई न सताए···कम से कम मेरे जीवित रहते। स्वास्थ्य के साथ-साथ ये भावनाएँ पुष्ट हो रही थी और मन, हर ढंग से, हर कीमत पर उसी से 'सिर्फ' और 'बस' की रेखाओं के साथ जुड़ना चाह रहा था···और यथा संभव परस्पर सहायता-सहयोग के प्रोग्राम भी बनने लगे थे। कॉलेज में डिबेट का आयो-जन करना हो या किसी दूसरे कॉम्पटीशन की या सांस्कृतिक कार्यक्रम की तैयारी हो सभी कुछ साथ-साथ होता रहा। इतनी आत्मीयता के बीच जब एक दिन मैंने अपना दिल खोलकर उसके सामने रख दिया तो प्रतिक्रियास्वरूप सामने आये

उसके नैतिक-आदर्श और महत्वाकांक्षाओं को अपने से बहुत ऊँचा पाया। सम्बन्ध जोड़ने के प्रस्ताव पर उसने राखी के धागे आगे बढ़ाये। जो मुझे स्वीकार नही थे। और ढोंग रचना मैं नही चाहता था। बस यही वह बिन्दु था जहाँ से हमारी नोक-झोंक या कहूँ उसका संघर्ष प्रारभ हो गया। चाहे जब वह नाराज हो जाती थी और मैं दु:खी हो उठता था। पर सब कुछ चाह कर, देकर कुछ भी न दे पाने की उसकी विवश छटपटाहट देखकर मुझे कभी-कभी लगता है काश! मैंने उससे कुछ ना चाहा होता तो, उसका जीवन तो बच रहता। वह मुझसे न जुड़ती तो शायद बेहतर ही होता'''। पर फिर लगता है—इसमें मेरे पुरुष मन का दोष हो तो भले ही हो पर मेरे पावन और सरस हृदय की कोई भूल नही, मैंने कोई पाप नही किया साहब! मैंने उसे, उन आँखों को, उन निष्पाप निरीह आँखों को, माथे को या और शरीर को ही नही उसके मन को, उसके जीवन को आत्मा से चाहा है, चाहता रहूँगा साहब। यह आत्मा का रिलेशन है तन-बदन, नैनछिन्दन्ति नही '''इस आत्मा का रिलेशन साहब,—कौन रोक सकता है इसे।

स्वास्थ्य लाभ के पश्चात जब हम मंदिर मे बाबा के दर्शन हेतु गए थे तो मंदिर की परिक्रमा के पश्चात् बाबा ने हमें उधर उस ओर भी भेज दिया था। नदी की कलात्मक मूर्ति के कलाकार की सराहना करते-करते हम अनजाने ही वहाँ शिवलिंग के सामने पहुँच गए। उसे शायद शिवलिंग मंदिर की बात मालूम नही थी। तभी तो मंदिर की सीढ़ियों पर चढ़ते हुए वह बहुत ही सहज हँसमुख मुद्रा से बातचीत करती रही और फिर अंतिम सीढ़ी पर शिवलिंग के ठीक सामने दरवाजे तक पहुँचकर एकाएक कितना सकपका गई और फिर शर्मीली अदा के साथ उसके पैर ठिठक गए थे। सामने से नजरें हटाकर बोली—आइए चलें, उधर बैठें। पता नही कौन और क्यों हमें यहाँ शिवलिंग के सामने ले आया था। मैं उससे 'मेरी अपनी' के रूप मे चाहता था। वह भी कहीं-न-कही मुझसे जुड़ी थी। हम यहाँ आए तो थे भगवान राम-कृष्ण के बाबा के दर्शन करने और पहुँच कहाँ गए शिवलिंग के सामने। जीवन का एक यथार्थ कितने गुपचुप ढंग से हमारे सामने आ खड़ा हुआ था। फिर उसी शिवलिंग मदिर के बाहर एक ओर एक चबूतरेनुमा सीढ़ी पर हमें बैठना था। उसे साड़ी संभालते हुए चढ़ने में असुविधा-सी होती देख मैंने अपने ही हाथों में उसका हाथ लेकर उसे बिठाया भी था और वहाँ फिर बहुत देर तक बातें करते रहे थे।

मुझे अभी भी याद है उस जगह बैठकर बातें करते हुए मैं पहली बार उससे खुल गया अपना अतीत और उसके चित्र खींचते-खींचते मेरी आँखें गीली हो ही गई थी। वह भी मुझे इस स्थिति मे देख भावुक हो गई थी।

मैं अपने दुःख को जताने का आदी नही था पर उसे सब कुछ बता देना मेरी विवशता ही नही आवश्यकता बन गई थी।

तेरह का रहा होऊँगा जब जिला शिक्षा अधिकारी के हाथों आठवीं में जिले भर में प्रथम पोजीशन का इनाम पाया था। उन्होंने मेरी पीठ ठोंकते हुए कहा था—शाबाश! उम्मीद है आगे भी···। तुम्हारी स्कॉलरशिप पक्की रहेगी। तुम्हें ऊँची शिक्षा पानी है समझे। 'जी; सर आपका आशीर्वाद साथ रहा तो विश्वविद्यालय की शिक्षा पूरी करूँगा और रिसर्च के लिए विदेश···।' कहते हुए मैंने चरण स्पर्श किये। और फिर विदा ली एक हाथ में अटैची और दूसरे में इनाम में मिली पुस्तकें लिए जब ट्रेन से उतरकर मैं गाँव आया तो मेरी खुशी का ठिकाना ना था। मैं मंसूबे बना रहा था—पापा के चरण छू कर उनका मुँह मीठा करूँगा और फिर रात को कैसे-कैसे सारी बातें अपनी सारी योजनाएँ उनके सामने रखूँगा कि मुझे डॉक्टरेट करना है। अब मैं खाना बनाकर खर्च के पैसे जुटाने के बजाय ट्यूशन या कोई और पार्ट टाइम जॉब कर लूँगा। मैं साइंस पढ़ूँगा ऊँची पढ़ाई है मेहनत करनी होगी वह तो करूँगा पापा, बस फीस या फिर खानेभर के कुछ पैसे दे दिया करें आप बस।

खट्-खट्, मैंने दरवाजा खड़काया। अदर से आवाजें आ रही थीं। शायद पापा किसी से बातों में मशगूल थे। दरवाजा खुला—देखा, माँ थी, मैं चरणों में झुक गया। माँ ने गले लगाया, गदगद हुई—बेटा फर्स्ट पोजीशन जो लाया था। पापा के चरण छुए वे भी खुश थे—बोले शाबाश बेटा और क्या चाहिए···। मैं पहला और सबसे बड़ा बेटा था। मैं खुश था पापा की खुशी से। जब सब चले गए तो खाना लगा—हम खाने लगे तो पापा माँ से बोले—समधी आये थे बात पक्की कर गए हैं। कहते थे—लड़का तो बड़ा हो गया उधर लड़की भी होशियार समझो अब मंगनी कर डालो।

खाना खत्म करते-करते मैंने अपने मसूबे बताए कहा मुझे अभी यह विवाह स्वीकार नहीं। पहले मुझे पढ़ लेने दो फिर जो जी चाहे करना। मेरी इस बात को लेकर घर में तूफान उठ गया। दो-तीन दिन ना पापा मुझसे बोले और न मैं पापा से।

पापा कहते थे बस, अब मेरे बस का नहीं घर संभालो। मैं कहता था मुझे अभी और पढ़ना है···।

मेरी अनसुनी कर घर में विवाह की तैयारियाँ होने लगी थीं और उधर मैं अपने दोस्त से पुरानी किताबें लेकर साइंस-मैथ्स की तैयारी कर रहा था। फिजिक्स, कैमिस्ट्री और मैथ्स। 9वीं में टैस्ट देने पर ही एडमीशन होता है। मुझे टैस्ट में सर्वोत्तम अंक पाने थे···। स्कूल खुलने के निकट आ रहे थे तभी एक दिन माँ बोली—बेटा तू तो जानता है न पारो के बापू तेरे पापा के लंगोटिया दोस्त हैं। पारो बड़ी होती जा रही है। तेरे पापा ने उन्हें वचन दिया था तेरे जन्म के समय से ही कि मेरा बेटा और तेरी बेटी···। मैंने जवाब दिया—'पर माँ तुम समझती क्यों नहीं पारो···काला अक्षर भैंस बराबर···मेरी जिन्दगी को···और माँ मुझे अभी

पढ़ना जो है। माँ मेरी अच्छी माँ मुझे बस पढ़ लेने दो।' और तब माँ से मुझे जो कुछ मालूम हुआ उसे जानकर विवाह के दिन मैं सबेरे ही घर से निकल भागा। मेरी समझ मे नही आ रहा था कहाँ जाऊँ ? कौन मुझे शरण देगा। काफी देर सडको पर इधर-उधर डोलने के बाद आशका हुई कि कहीं कोई देखकर पापा को सूचित न कर दे। सुबह के झुटपुटे मे मैं भागा और अतत: एक गुरुद्वारे मे जा छिपा। पूरे दिन पूरी रात वही बैठा रहा। कभी-कभी बैठा-बैठा ऊंघ जाता तो चिंता होती कोई देख न ले···।

और अत मे वही हुआ जिसका डर था। देवस्थान, गुरुद्वारा भी बचा नही सका। पापा ने दूसरे दिन शाम तक मुझे ढूंढ़ ही लिया। और बस मैं बलि का बकरा बना दिया गया। विवाह मण्डप मे लोक-लाज वश मैं चुपचाप बँधता चला गया पारो के साथ। मन में विद्रोह जागता होने दो—मैं···मै इस अपना नही सकता। मैं बदला लूंगा ...।

पारो के पिता ने अपनी व्यवसायी बुद्धि से उसके लिए एक उत्साही और मेहनती होनहार युवा—तलाश कर लिया था। सुहाग के जोड़े मे लिपटी, लजाती-शरमाती वह आयी। और यूँ घर-खर्च और भी बढ़ गया। पिताजी अब रोज-रोज पढ़ाई छोड़ने की बात कहकर मुझे छेदते खुद हलकान होते।

मैं शहर मे रहता था। कभी-कभार गाँव आता तो उधर पिताजी और इधर पारो दोनो कलह करते मिलते। पारो सदा रोती रहती। कहती मेरी कोई परवाह नहीं करता—आखिर क्या कमी है मुझमे। मैं साथ चलूंगी। मैं उससे अलग रहकर शहर मे काम करता और पढ़ता रहा। हाई स्कूल इण्टर बी० ए०, बी०-एड···। फिर एक बार जब परीक्षा फार्म भरने का अन्तिम दिन आ गया फीस का प्रबन्ध नही हो सका, तब पता नही वह कहाँ से बीस रुपये लायी और मेरी तरफ बढ़ाते हुए बोली—'तुम भले ही न चाहो, पर मैं आखिर तो तुम्हारी सतफेरी हूँ—मेरी तरफ देखो तो, मुझे साथ ले चलो—तब मुझे भी उससे कुछ सहानुभूति-सी हो आयी पर अन्दर-ही-अन्दर उसे लेकर 'यह मेरी नही हो सकती' का भाव बना रहा।

फिर भी पारो मेरे साथ शहर आ गयी और तब से आज तक मेरे साथ जो खिलवाड़ होता रहा है उसे याद कर अपने हाथो अपना गला घोंट डालने का मन होता है। प्रतिदिन, प्रति सप्ताह, प्रति माह मैं उससे छिटक कर अलग हो जाने की योजनाएँ बनाता रहा पर मैं उसी में धँसता चला गया। मैं सच कहता हूँ साब मुझे उससे कतई लगाव नही। क्या कहा—वह मेरी पत्नी···। नही साहब मैं नही मान सकता। सात फेरे लेकर कोई सम्बन्ध, पति-पत्नी का सम्बन्ध, यदि सचमुच बन सकता होता तो आत्मदाह और तलाक़ जैसे शब्द जन्म ही न लेते। बिना किसी रागात्मक लगाव के सिर्फ पति होने का टैक्स चुकाने के लिए या उसकी ही

पहल पर इमारती गैरज में गुजार जाने का नाम ही पति-पत्नी का है ? जब वह मेरे पास आ ती मेरी बगल में आकर पसर जाती तो मुझे लगता यह सब बनावटी-भुलावा है कोई सहज समर्पण नहीं। कभी-कभी मुझे लगता है कि मैं एक पराची बेटी हूँ और मेरे साथ सामाजिक अनुबंध कर रहा है पारो …बलात्कार और कहते किसे हैं ?

मैं हिमाचल कृषि विद्यालय में जब विज्ञानविद् का लेक्चरर नियुक्त हुआ तब मुझे मिली थी मानसी। परिचय-पहचान और मित्रता बढ़ी तो एक दिन लगा था कि हाँ यही सब कुछ है जो मेरे मानसी, चाहों का पूर्ण रूप बन सकती है। पर शायद भाग्य यही है कि यह अपने को किसी भी तो तब जब पारो मुझे उजाड़ चुकी थी। पर इन सबके बावजूद मैं उसे तहेदिल से चाह बैठा। जिस पृष्ठभूमि के साथ वह मुझे मिली थी उससे उसे अपनाने की बात से आप भले हों पाप कहें पर मैं इसे पाप नहीं मान सकता, मैंने कोई पाप नहीं किया। एक मानवी, पूरी रागात्मकता, आत्मीयता के साथ मिली थी मुझे वह। मैंने उसे तन, मन, प्राण से चाहा है साहब और चाहूँगा, मुझे आप नहीं रोक सकते। पारो तो लादा हुआ बोझ और उसकी सामाजिक घोषणा मात्र है जबकि वह… मेरी आयु, प्रतिभा, मानसिकता, रुचि और महत्त्वाकांक्षाओं सभी कुछ का पर्याय है। मेरी आत्मा की पुकार। उसका स्वभाव आदि सब कुछ मेरे अनुकूल है और पारो…? उसका स्वभाव, बुद्धि, योग्यता, रुचि, मानसिकता सब कुछ मेरे प्रतिकूल। तभी तो कहा न साहब मैं उसे छोड़ नहीं सकता—मेरा लगाव शरीर का नहीं आत्मा का लगाव है। तभी तो जब भी आत्मा जाग कर विद्रोह करती है तो मैं यहाँ उससे आठ सौ किलोमीटर दूरी पर बैठे हुए भी रातों-रात उसके पास जाता हूँ। ब्रह्ममुहूर्त में उसके सिर, मुँह, माथा और उसकी आत्मा को प्यार करके उससे विदा ले वापस और उसकी फौज की कैद में आ जाता हूँ। और वह…? वह भी कहाँ रह पाती है मेरे बिना जब भी मैं बीमार या उदास होता हूँ उससे नहीं रहा जाता चली ही आती है मेरे पास। इस रूप में वह मेरा जीवन और मेरी दवा भी है। पर साहब पारो के पास सामाजिक घोषणा का सर्टिफिकेट है। और उसे चाहकर भी यह सर्टिफिकेट मैं उसे नहीं दे सका हूँ। जब यह समस्या सामने आती है तो लगता है शायद मैं दोषी हूँ। मैंने उसको उसके जीवन को अपनी चाह और चयन पर मिटा दिया है। मैं उसे किसी भी कीमत पर छोड़ नहीं सकता। पर उसके बिना जीना पाप है। नहीं कभी-कभी लगता है कि काश ! मैंने उसे न चाहा होता…काश मेरी चाह और मेरे चयन को, यह स्वीकृति न मिल पायी होती। कम से कम वह तो किसी और से अपनी चाह ढूँढ़कर जी पाती…पर फिर दूसरे ही क्षण मुझे लगता है कि काश ! वह मेरी ही सिर्फ और बस मेरी ही होती। और मेरी अपनी हरियाली बन पाती…। काश कि…

मुझे क्या करना चाहिए ? मैं उदात्त को जीना चाहता हूँ। उदात्त क्या है ? पारो और उसकी फौज के प्रति मेरा इन्सानी फर्ज या कि अपने जीवन की इस पहली और अन्तिम हरियाली को पकड़ने का दायित्व और प्यार की हरियाली जी लेने का साहस। अजीब समस्या है कहाँ अपढ़ पारो और कहाँ संवेदनामयी मानवी बीच में···। पापा ने यह क्या कर डाला ? क्या यह पाप नहीं ?

एक त्रिकोण-सा बन गया है पारो, मैं और वह मेरी प्राण प्रिया। शायद हम तीनों का जीवन बलात्कार की रेखाओं में कैद होकर रह गया है। मैं उदात्त को जीना चाहता हूँ पर मेरा उदात्त कहीं खो गया है। सामाजिक घोषणा और सर्टिफिकेट क्या इतने जरूरी है कि उनके खातिर जीवन होम कर दिया जाये··· बताइए न आप ही बताइए क्या करूँ ?···मैं सोचता हूँ और सोचता ही रह जाता हूँ। सामने खड़े पेड़ हरियाली के गुच्छे झूमते हुए जैसे मुझे बुला रहे हैं। मैं उनकी पुकार पर उन्हें जीवन भर के लिए पकड़ना चाहता हूँ। पर फिर पारो···। नहीं··· मुझे जीना ही होगा।···शायद मुझे अगला क़दम भी उठाना ही होगा। सर्टिफिकेट वाली सड़ी-गली सामाजिक परम्परा को दबोचना ही होगा। अन्यथा मेरी साँसें, मेरी धड़कन, मेरा चयन और यह हरियाली सब कुछ मुझसे छूट जायेगा। पर क्या मैं सचमुच···? हरियाली के गुच्छे हवा में झूल रहे हैं जैसे मेरी गलबहियाँ कर रहे हों। क्या आप मेरा साथ देंगे···? क्या मैं अगला कदम उठा लूँ ? ●

क्लास-फैलो

□

बुलाकीदास बावरा

बस के आते ही प्रदीप उसमें हो लिया। सारे रास्ते वह सोचता रहा—अपने अपमान के बारे में, जो आज उसका क्लास मे हुआ था। उसकी इतनी ही भूल थी कि वह गुप्ताजी के नोट्स उतारते वक्त, कविता लिख रहा था। उसने तय किया कि वह गुप्ताजी का पीरियड अटेन्ड नहीं करेगा।

एक सप्ताह हो गया, उसने गुप्ता की क्लास ज्वाइन नही की। गुप्ताजी ने उसकी शिकायत हैड साहब से की। हैड साहब ने भी उसे भला-बुरा कहा किन्तु प्रदीप अपने फैसले पर टिका रहा।

कॉलिज के लडके उसकी रचनाओ से बहुत प्रभावित थे अतः बात अधर में झूलती रही—प्रिंसिपल तक नही पहुँची। उधर कॉलेज यूनियन का इलैक्शन भी होने वाला था और अधिकाश लड़के, प्रदीप के फेवर मे थे और उसे खडा करना चाहते थे परन्तु प्रदीप ने अभी कोई फैसला नही लिया था।

रविवार को—प्रदीप को हल्का बुखार था उसका बदन भी दुःख रहा था। उसने एक गोली के अलावा कुछ नही लिया। आज वह खाना भी नही बना सका और न ही तय कर सका कि उसे इलैक्शन लड़ना है। उसने तय किया पहले वह पास की डिस्पेन्सरी से दवा ले आये। यही सोच, वह बाहर निकला ही था कि देखा सामने रीना खडी थी।

'हेलो प्रदीप' हाऊ आर यू ? 'हेलो रीना' मुझे हल्का-सा बुखार है, पर ये तो बताओ कि तुम्हे मेरे घर का पता कैसे मालूम हुआ ?'

'पिछले साल की कॉलेज मैग्जीन से, तुम्हारे गीत के नीचे तुम्हारा नाम व घर का पता लिखा हुआ था।'

'तुम अकेले ही रहते हो ?'

'हाँ।'

'पिताजी वगैरा ?'

'गाँव मे।'

'तुमने बोर्डिग मे क्यो प्रवेश नही लिया ?'

'मैं इतना खर्च एफोर्ड नहीं कर सकता था।'

'अरे। मैं तो भूल ही गयी प्रो० गुप्ता ने तुम्हें ये ख़त लिखा है—लो पढो।'

प्रदीप ने लिफ़ाफ़ा खोला, पढकर बोला, 'ये एकाएक परिवर्तन कैसे हुआ ? उन्होंने तो मेरी शिकायत हैड ऑफ़ दी डिपार्टमेंट राव साहब से भी की थी—और उन्होने मुझे...'

'फटकारा भी था यही न।'

'तुम्हें कैसे मालूम ?'

'उस समय मैं भी वही थी।'

'कारण ?'

'मुझे तुममे यानी तुम्हारे इस केस में इंट्रेस्ट था।'

'तो तुमने ये सब करवाया।' गुप्ताजी को सॉरी। फील करने की आवश्यकता नही थी दरअसल मैं ही गलती पर था।'

'अरे ! तुम्हारा बदन तो अधिक गर्म है।' रीना ने उसका हाथ छूकर कहा।

'मेरे पर्स में टेबलेट है, इसे चाय के साथ ले लो।'

'लेकिन चाय।'

'मैं बनाती हूँ।'

रीना ने कागजों के—पुड़ों को टटोला, किसी मे चाय, किसी मे चीनी... नही, आखिर उसने बड़ी मुश्किल से दो कप चाय बनायी। उसकी जिन्दगी मे इस तरह से चाय बनाने का यह पहला मौका था।

प्रदीप टेबलेट के साथ चाय पीते-पीते बोला, 'मैं इलेक्शन लड़ूँ; साथी बहुत प्रेशर डाल रहे हैं।'

'फिर क्यों नही लड़ते ?'

'तुम मेरा साथ दोगी—मेरा मतलब गर्ल्स वोटो पर मेरा भरोसा नही है। इसलिए अगर तुम एक्टिव हो जाओ तो...।'

'क्या कह रहे हो प्रदीप ? मैं तुम्हारे लिए...।'

'जान दे सकती हो' यही ना उसकी फिलहाल आवश्यकता नही—हम जान लेते नही लोगो मे जान डालने के लिए जीते है समझे' प्रदीप बोला।

'कल से पीरियड अटेन्ड करोगे न ?'

'हाँ, लाइब्रेरी मे तुम एक बार मुझसे मिल लेना।'

'मैं तुम्हारा वही इन्तजार करूँगा।'

'ओके' चलती हूँ।'

'ओके' प्रदीप को रीना का साथ अच्छा लगा वह उसके और इलेक्शन के बारे में सोचता-सोचता सो गया। चुनाव बहुत गहमा-गहमी के उपरांत सम्पन्न हुए। प्रदीप प्रेज़ीडेन्ट बना और रीना 'इंगलिश लिटरेरी ऐसोसियेशन' की सेक्रेटरी चुनी

गयी। इस इलेक्शन की विशेष बात यह थी कि प्रदीप केवल एक वोट से ही जीता था।

सुबह से ही प्रदीप को बधाई देने वालों का तांता लगा हुआ था। मुस्करा कर वह सबकी बधाई स्वीकार कर रहा था—अपनी जीत को सबकी जीत बता रहा था।

इतने मे उसके घर के मोड पर एक कार रुकी सामने देखा तो रीना मुस्कुराकर अभिवादन करती हुई आगे बढ़ी और उसे एक बड़ा-सा गुलदस्ता देती हुई बोली—

'इतनी खुश हूँ मैं प्रदीप कि उसका इज़हार नही कर पा रही; तुम नही जीते—सारा कॉलेज जीता है।'

'रीना ये मेरी जीत नही बल्कि तुम्हारी जीत है, तुमने अगर मुझे वोट नही दिया होता तो ?'

'तुम हार जाते। यही न ?'

'हाँ, रीना एक ही वोट डिसाइसिव रहा। वह अगर नही मिलता तो ?'

'तुम्हें भी बधाई' तुम 'लिटरेरी ऐसोसिएशन' की सेक्रेटरी, जो चुनी गयी हो।'

'मेरी जीत और तुम्हारी जीत मे जमीन-आसमान का फ़र्क है प्रदीप ! मुझे तो हैड साहब ने नोमीनेट किया है लेकिन तुम ! तुम तो बहुमत से आये हो' रीना ने विनम्र होकर कहा। तभी दरवाजे पर दस्तक हुई। टेलिग्राम के साथ एक आदमी नमूदार हुआ। प्रदीप ने तार खोलकर पढा।

'ये किसका तार है ? सब खैरियत तो है ?' रीना ने पूछा।

'सुधा का'''सुधा का तार है।'

'ये सुधा कौन है ?'

'एक साथी।'

'साथी !'''

'मुझे एक सप्ताह के लिए बाहर जाना होगा।'

'इन्टर यूनिवर्सिटी यूथ फेडरेशन की मीटिंग है।'

थोड़ी देर की खामोशी को लांघते हुए प्रदीप बोला, 'ये मन्मथनाथ गुप्त द्वारा लिखित क्रान्तिकारियों की जीवनियों का सेट, रीना अपने साथ ले जाओ। मेरे नाम से कॉलेज लाइब्रेरी मे जमा करवा देना। हो सके तो, तुम इन्हे जमा करवाने से पूर्व अवश्य पढ़ना। बड़ी थ्रीलिंग इव्हेन्ट्स हैं इनमें।'

प्रो० राव हमेशा की तरह पढ़ाने आये, आज रीना का पढ़ने का 'मूड' नहीं के बराबर था जिसे भाँपने में उन्हें देर नहीं लगी।

'मुझे आज एक कॉन्फ्रेन्स अटेन्ड करनी है, आज नहीं पढ़ा पाऊँगा। हाँ, हो सके तो एडीसन के ऐसेज एक बार जरूर देख लेना। अच्छा, मैं चलता हूँ।' कहते हुए राव साहब निकल लिए। रीना तो यह चाहती ही थी।

राव साहब के जाने के बाद रीना की दृष्टि उन किताबों पर पड़ी जिन्हें वह प्रदीप के यहाँ से लायी। उसने उन्हें उलट-पुलटकर देखा पर पढ़ने की इच्छा नहीं हुई। उन पुस्तकों में प्रदीप की एक डायरी भी आयी थी जिसका एक-एक पृष्ठ उसने पढ़ा—उसमें कुछ गीत - क्रान्तिकारियों के कुछ वक्तव्य और कुछ एड्रेसेज थे।

उसे ताज्जुब हुआ कि प्रदीप, इतने सुन्दर प्राकृतिक गीत लिखता हुआ भी क्रान्तिकारी विचार रखता है—उसकी समझ में कुछ नहीं आया। उसने तय किया कि वह इस सम्बन्ध में प्रदीप से अवश्य डिस्कशन करेगी और उसे डाइवर्ट भी करना चाहेगी। सुधा का सन्दर्भ भी वह भूली नहीं थी।

अगले दिन उसने वे सारी पुस्तकें लाइब्रेरी में जमा करवा दीं और उसकी जगह कुछ रूमानी उपन्यास अपने नाम से इश्यू करवा लायी। यह सोचकर कि वह, उन्हें प्रदीप को पढ़ने के लिए देगी ताकि उसका ध्यान उसकी ओर खींचा जा सके। दरअसल रीना प्रदीप को अत्यधिक चाहने लगी थी। एक सप्ताह बाद प्रदीप लौटा पर उसे डायरी की चिन्ता सता रही थी वह सोच रहा था कि वह किसी गैर के हाथ पड़ गयी तो मुश्किल खड़ी हो जायेगी। अतः वह सीधा रीना के घर गया ये सोचकर कि शायद डायरी किताबों के साथ चली गयी हो।

'रीना घर में है?' उसने कॉलबेल से हाथ हटाते हुए पूछा।

'ऊपर के कमरे में है।' उसकी नौकरानी बोली।

'आप कौन हैं साहब?'

'मैं प्रदीप, हम कॉलेज में साथ-साथ पढ़ते हैं।'

'आप बैठिये। मैं अभी बुलाती हूँ।'

'बहुत दिन लगा दिये।' रीना ने उलाहने भरे लहजे में कहा।

'मैंने कहा था ना एक हफ्ता लगेगा।' प्रदीप बात को आगे बढ़ाते हुए बोला।

'अच्छा! ये तो बताओ कि उन किताबों में, कहीं मेरी डायरी तो नहीं गयी? मैं चिन्तित हूँ!'

'अगर ना कहूँ तो?'

'अच्छा हुआ, वरना मुश्किल हो जाती।'

'ये तो बताओ, तुमने वे किताबें पढ़ीं या जमा भर करवा दीं?'

'नही पढ़ी।'

'क्यों ?'

'मेरी तबीयत ही नही हुई, हाँ, तुम्हारी डायरी के गीत बहुत अच्छे लगे। खास तौर पर—'गगन का बदल रहा है रंग, धरा का बदल रहा है रंग।' रीना ने गुन- गुनाते हुए कहा।

'अरे! तुम तो बहुत अच्छा गा लेती हो। बी० ए० मे म्यूजिक था क्या ?'

'नही।'

'तो कैसे सीखी ये गाने की कला ?'

'तुम्हारे गीत पढ़कर।'

'छोड़ो, अब काम की बात करें—प्रदीप ने कहना शुरू किया। देश मे छात्रो द्वारा संघर्ष छेड़ने का फैसला (मीटिंग मे) लिया गया है।' यह कहते हुए उसने अपने बैग से 'माँग-पत्र' निकालकर रीना के हाथ मे थमा दिया।

रीना ने पढ़ा, लिखा था—

इन्टर यूनीवर्सिटी यूथ फैडरेशन माँग करता है—

—शिक्षा को व्यवसाय के साथ जोड़ा जाये।

—बेकारो को रोजगार-भत्ता दिया जाये।

—अठारह वर्ष के युवको को मताधिकार दिया जाये।

—हिन्दी को मीडियम ऑफ इन्सट्रक्शन का दर्जा दिया जाये।

—समूची शिक्षण-सस्थाओ का राष्ट्रीयकरण हो।

—गूँगों, बहरों, लँगड़ो की स्नातकोत्तर तक की शिक्षा की व्यवस्था सरकार अपने खर्चे से करे। और उनकी सरकारी नौकरियों का आरक्षण हो।

—मैनेजमेट मे छात्रो का प्रतिनिधित्व हो।

'तो ये है तुम्हारा सप्तसूत्री माँग-पत्र।' रीना पढ़ते हुए बोली।

'हाँ, इस माँग-पत्र के साथ हमने एक माह का अल्टीमेटम दिया है।' तुम साथ दोगी ना ?

'मुझे क्या करना होगा।'

'स्टूडेन्ट्स को (खास तौर से गर्ल्स स्टूडेन्ट्स को) ओर्गेनाइज करना होगा।' 'यू विल बी द कन्वीनर ऑफ गर्ल्स यूनिट।'

'ठीक' रीना बोली साथ ही मे, अपने नाम से इश्यू करवाई हुई किताबो को, प्रदीप को देती हुई बोली।

'कभी-कभी ये भी पढ लेना।' तुम्हारे लिए लायी हूँ।' प्रदीप उन्हे उलटते हुए बोला—

'इनके लिए तो सारी उमर पड़ी है रीना ! अभी इनका समय नहीं आया। खैर ! तुम लाई हो तो ले जाता हूँ, परन्तु अभी शायद ही पढ पाऊँ।'

प्रदीप कॉफी का आखिरी घूंट लेते हुए, उठ खड़ा हुआ।

चौबीस अक्टूबर को समूचे देश मे प्रदर्शन हुए। हजारों विद्यार्थियों को हिरासत मे लिया गया।

रीना पिकेटिंग करती हुई, गिरफ्तार की गयी। लेकिन बाद मे छोड दी गयी।

प्रदीप पर तोड़-फोड़ करने का मुकदमा चला जिसमें उसे तीन माह की कैद की सजा सुनाई गयी। रीना ने हाईकोर्ट में अपील दायर की किंतु प्रदीप के इकबालिया बयानो से वह सजा बरकरार रही।

सरकारी आदेशानुसार तमाम यूनिवर्सिटियाँ तीन माह के लिए बन्द कर दी गयी और परीक्षाएं आगे बढ़ा दी गयी।

इधर यह आन्दोलन छात्रो तक सीमित न रहकर जन आन्दोलन बन गया। पाँच माह के बाद यूथ फैडरेशन व सरकार में समझौता हुआ जिसके अनुसार—

——अठारह वर्षीय युवको को मताधिकार देने की सभावना हेतु समिति बनाई गयी जिसके अध्यक्ष सुप्रीम कोर्ट के रिटायर्ड जज मि० सुब्बैया नियुक्त किए गये जिनकी सिफारिश सरकार को मान्य होगी।

—शिक्षा की नयी नीति निर्धारित करने का फैसला लिया गया और एक बोर्ड गठित किया गया।

—बहरों, गूंगों, लँगड़े विद्यार्थियों को राज्य की तरफ से शिक्षा देने की माँग मान ली गयी साथ-साथ नौकरियों मे आरक्षण की भी।

—छात्रो पर चलाये गये मुकदमे वापस ले लिए गये।

शेष तीन सूत्रों हेतु आयोग गठित किये गये जो छ माह मे अपना प्रतिवेदन पेश करेंगे। इस प्रकार आंदोलन ले दे के समाप्त हुआ। कॉलेज पुनः खुले—प्रदीप कवि नही बल्कि एक लोकप्रिय नेता जाना जाने लगा। इस संघर्ष मे प्रदीप के दायें हाथ मे गोली लगी और उसके फलस्वरूप उसे अपना दांया हाथ कटवाना पड़ा था। अगले तीन माह बाद परीक्षाओ की घोषणाएं कर दी गयी। छात्रो ने भी राहत की साँस ली और परीक्षा हेतु अध्ययन में जुट गये।

आज रीना और प्रदीप लाइब्रेरी रूम में एक साथ पहुंचे—यद्यपि ऐसा तय नही था।

'हाऊ ग्रेट यू आर प्रदीप? रीना मुस्कान फेंकती हुई हो गयी। किन्तु दूसरे ही क्षण, उसके कटे हाथ को देखकर, उसकी मुस्कराहट ... से हुए?'

प्रदीप ने बात बदलते हुए कहा, 'तुम्हारे ...

'ठीक हुए।'

'तुम्हारे ?'

'बुरे नही।'

'एक बात पूछूँ प्रदीप ?'

'तुम्हें इस संघर्ष में क्या मिला ? तुम्हारा हाथ जो···।'

'ये तो कुछ नही रीना। हाथ तो क्या ? जानें तक चली जाती हैं।'

'बिना बलिदान के कोई महत् कार्य सिद्ध नहीं होता। मुझे स्वामी विवेकानन्द की ये उक्ति अब भी याद है जिस पर मैं चला।

'लेकिन तुम तो मूल रूप में कवि हो। सौंदर्य के पुजारी हो—तुम्हें ये सब किसने सुझाया ?'

'कोई नही सुझाता रीना।'

'बहुजन हिताय ही कवि का कर्म होता है—'

'मेरा उन कवियों मे विश्वास नही जो दोहरी जिन्दगी जीते हैं—'

जनता को पलायित करने वाली कविताएँ सुकर्म नहीं कही जा सकती। आगे कुर्सी खिसकाते हुए वह बोला।

'सुनो रीना। तुमने शायद मुझे क्रान्तिकारी मान लिया है, जो कि तुम्हारी बहुत बड़ी भूल है—

—मैं तो उनकी जूतियों का तला भी नही जिन्होंने हँस-हँस के मातृभूमि के लिए कुर्बानी की।

—आज भी हमारे देश के सामने अनेकों अहम् सवाल हैं, जिसमें युवकों की भागीदारी अपरिहार्य हैं वे अगर उससे बचें तो बड़ा अनर्थ होगा। रीना बड़े गौर से प्रदीप की बातो को सुनती रही और मन-ही-मन उस पर गर्व करती रही कि कितना महान् है वह।

प्रदीप को घर छोड़कर, रीना अपने बंगले लौटी ही थी कि टेबल पर रिजल्ट समेत अखबार पड़ा पाया। रीना फर्स्ट क्लास की रो में व प्रदीप सेकन्ड क्लास की रो मे था। इतने मे प्रदीप भी आ गया रीना को बधाई देने।

दोनो ने साथ-साथ कुछ मीठा खाया और दूसरे दिन मेल से, साथ जाना तय किया। रीना को दिल्ली जाना था प्रदीप को चुरु—गाड़ी एक ही थी।

'—पर आज बहुत भीड़-भड़क्का था - रीना ने प्रदीप से बिना पूछे ही उसका

'मैं···रवा लिया।

बोली। ···किट ले लिया है।' प्रदीप के प्लेटफार्म पर पहुँचते ही रीना

'मेरा टिकिट ! मैं ···

बोगियाँ सरकार ने सेकेन्ड क्लास ···क्लास का मुसाफिर हूँ चूंकि थर्ड क्लास की

···ी है।'

'तुमने फर्स्ट क्लास का टिकिट लिया होगा।' उँगली उठाते हुए प्रदीप ने पूछा।

'हाँ।'

'ये तुमने अच्छा नहीं किया।'

'तुमने ही तो कल कहा था कि साथ चलेंगे इसलिए खैर' प्रदीप कुछ गंभीर होकर फिर संयत भाव में कहने लगा—रीना ! हमारे जिन्दगी का सफर, तुम और हम तय नहीं करते बल्कि यूनिवर्सिटियाँ करती हैं फर्स्ट क्लास, सेकेण्ड क्लास या, थर्ड क्लास की डिग्रियाँ देकर।

'पता नहीं इन सबका अन्त कब होगा? कब वह सूरज उगेगा जब लोग आजादी के आनन्द में थिरकेंगे—खैर, वे फिर लगे नेतागिरी की फिलासफी छाँटने?

'वो देखो, वे सब तुम्हारा इन्तजार कर रहे है जाओ उनसे मिलो तब तक मैं रही हूँ।'

सैकड़ों छात्र प्रदीप को मालाएँ पहना रहे है—'प्रदीप जिन्दाबाद' के नारो से सारा वातावरण गूंज रहा है—प्रदीप सबका अभिवादन स्वीकार कर रहा है—थोड़ी देर रीना ये सब देखती रही। उससे भी नहीं रहा गया उसने सोचा कि सब उसका स्वागत कर रहे हैं तो मैं क्यों पीछे रहूँ। वह प्लेटफार्म से बाहर आकर, एक गुलदस्ता व एक माला बँधा लाई। बडी मुश्किल से वह प्रदीप तक पहुँची। उसने गुलदस्ता प्रदीप को भेंट किया अपनी ओर से—और बँधी माला उसके हाथ में देते हुए कहा कि इसे मेरी ओर से सुधा को पहना देना।

कुछ क्षणों के लिए प्रदीप रीना को देखता रहा—फिर एक हल्की-सी निश्वास खींचते हुए, फुसफुसाया, 'रीना ! क्लास फैलो हो, तो तुम जैसा !'

उधर गार्ड भी झण्डी हिला चुका था। •

लौटा हुआ सुख

□

दिनेश विजयवर्गीय

पिछले पन्द्रह दिनों से बन्द कमरे के दरवाजे को जब सुमित ने खोला तो सामने पड़ी पत्र-पत्रिकाओ ने उसका मन मोह लिया। वह बस से उतरा तो सोचता रहा था कि कई रचनाओं के स्वीकृति पत्र तथा पत्रिकाएँ उसे कमरे मे पडी मिलेंगी। यही सब तो उसके मन को हल्का कर देता है। नही तो उसका अकेलापन कैसे दूर हो ? कौन है उसका इस कस्बे मे ? जया और बच्चे तो रह गये दो सौ किलो-मीटर दूर। यहाँ तो वह पिछले दस माह से सैकेण्डरी स्कूल मे अध्यापन कर रहा है। खाना सुबह-शाम होटल पर खा आता है।

थोड़े से समय मे कई अध्यापक और दूसरे लोग जानने लग गये थे कि वह एक अच्छा लेखक है।

सुमित ने दूसरी मंजिल के अपने कमरे की खिड़कियो को खोला। आज रविवार होने से चारो ओर चहल-पहल-सी थी। छतों पर बच्चे पतग उडा रहे थे। उसके सामने वाले मकान के कमरे की दोनो खिड़कियाँ खुली हुई थी, उर्मिला यहीं रहती थी। आगे कमरे की छत पर एक महिला छोटे बच्चे को धूप मे नहला रही थी।

सुमित ने सफर की थकान को दूर करने के लिए सबसे पहले चाय बनाने का निश्चय किया। पतग उड़ाते एक बच्चे से दूध मंगवा लिया और खुद नीचे कुएँ पर बाल्टी लेकर पानी लेने चल दिया। वहीं पर सामने वाली टीचर भी पानी भर रही थी। सुमित को देख उसने आँखो से ही मुस्कराहट भरा नमस्कार किया। मुस्कराहट ने सुमित को अन्दर तक गुदगुदा दिया।

प्रस- सिप के साथ उसने सभी पत्र पत्रिकाओ की गर्द को साफ किया। वह चुकी थी। -कि पिछले माह भेजी गयी चार रचनाओ मे से तीन स्वीकृत हो स्वीकृत हुई उनकाएँ भी उसने खोलकर देखी। इन दोनों मे ही बहुत पहले लिफाफा खोला। जिस पर ँ ुप्रकाशित थी। अन्त में उसने एक छोटा सफेद

ेख से उसका नाम व पता लिखा था।

पीले रंग के कागज पर काली स्याही की सुन्दर लिखावट देख उसका मन खिल उठा। पत्र कहाँ से आया ? स्थान का नाम उसमें नहीं था। बस दिनांक लिखा था। पत्र में उसे 'प्रिय सुमित' सम्बोधित किया गया था। और अन्त में लिखा था—'तुम्हारी उर्मि।'

···पत्र में लिखे 'प्रिय सुमित' और तुम्हारी उर्मि को देखकर उसे यह समझते देर नहीं लगी कि यह पत्र उसके सामने वाली टीचर उर्मिला का है। पहली बार पत्र पाकर उसे प्रसन्नता हुई। शायद किसी रचना पर बधाई संदेश हो। पर पत्र की लम्बी लिखावट और 'तुम्हारी उर्मि' देखकर दूसरे ही क्षण लगा पत्र किसी विशेष उद्देश्य से लिखा गया है।

उसने खाट पर लेट आराम से पढ़ना चाहा। चादर को साफ कर तकियो का सहारा ले वह पत्र पढ़ने लगा···

प्रिय सुमित !

चार माह पूर्व जब मैंने आपको···माफ कीजियेगा मैं आपकी जगह तुम कहना चाहूँगी। मेरा मन 'तुम' शब्द से अधिक निकटता और आत्मीयता पाता है, बस इसीलिए। और हाँ, 'सुमितजी' के स्थान पर सुमित लिख रही हूँ। बुरा तो ना मानेंगे ?

हाँ, तो लिख रही थी···जब पहली बार तुम्हारी मनोवैज्ञानिक कहानी 'अपने हिस्से की विवशता' पढ़ी, तभी से मुझे लग रहा है, कि मैं तुम्हारे से जुड़ती चली जा रही हूँ। तुम एक संवेदनशील लेखक हो ना इसीलिए आदमी के मन को हर कोने से पढ़ लेते हो। कितनी गहरी है तुम्हारी पकड़ !

मैंने तुम्हारी कुछ कहानियाँ पढ़ी। रचनाएँ मुझे बहुत पसन्द आईं। मैं तुम्हारी अच्छी रचनाओं के लिए तुम्हें बधाई देती हूँ। बधाई ऊपरी औपचारिकता की नहीं, बल्कि आत्मीय प्रसन्नता की।

मैं कई दिनों से तुमसे बात करना चाह रही थी, पर जब कुछ भी ना बन पड़ा तो पत्र लिखने बैठ गयी।

सच पता नहीं सुमित, तुम मुझे इतने अच्छे क्यों लगते हो ? दूर शहर में मेरा भी भरा-पूरा मकान है। सुन्दर स्वस्थ पति, सास-ससुर, ननद-देवर और एक प्यारा बेटा भी है। कोई कमी नहीं थी। नौकरी करने की मेरी मजबूरी भी ... नौकरी तो मैं शौक़ से कर रही हूँ। मुझे बच्चों को पढ़ाना अच्छा ... ज्ञान देकर सही दिशा देना बहुत भला लगता है। ... गयी हूँ। ऐसा

तुम्हारी रचनाओं को पढ़कर मैं तुम्हारे मन ... सुन्दर आँखों मे बस लगता है जैसे हम पूर्व जन्म के बिछुड़े साथी ... कश्मीर मे सोनमर्ग की पहाड़ी जाने की इच्छा है। जी चाहता है तुम्...

की तलहटी मे झूम लूं। जहाँ धरती-आसमान एक दूसरे पर झुके प्यार करते दिखते हैं, मन चाहता है कि वहाँ तक तुम्हारे माथ सफर कर लूं। तुम्हारो चौडी छाती मे अपना सिर रखकर अपने लिए सुरक्षित स्थान तलाश लूं। माफ करना सुमित, मेरी इच्छा रहती है कि मैं तुम्हे अपनी बाँहों में समेट लूं।

सुमित, पत्र मे लिखी किसी बात का बुरा न मानना। मैं हमेशा तुम्हें प्यार करती रहूँगी। क्या कभी कुछ समय दोगे? मन तुमसे बहुत सी बातें करना चाहता है।

अत में तुम्हारी इतनी अच्छी लेखनी के लिए तुम्हें फिर से बधाई और शुभ-कामनाएँ!

तुम्हारी
उर्मि!

पत्र पाकर वह दूर कहो खो गया—वियावान मे। उसे कभी ऐसे पत्र की आशा नही थी उर्मिला से। पर दूसरे ही क्षण उसने निश्चय कर लिया कि वह उसे सही रास्ते पर लाने की पूरी कोशिश करेगा और अगले ही क्षण वह पत्र लिखने बैठ गया।

प्रिय उर्मिलाजी,

पत्र के लिए धन्यवाद। आपने मेरी कहानियाँ पसन्द की और मुझे आत्मीय स्नेह देकर अपने मन मे जो स्थान दिया, उसके लिए आभारी हूँ।

आप प्रबुद्ध पाठिका है। यह जानकर प्रसन्नता हुई।

लगता है उर्मिलाजी, आपकी कल्पना किसी शायर से भी आगे बढकर है। शायद गहरे तक डूबकर सोचने वाले दार्शनिक की तरह खो जाना चाहती हैं आप। पता नही बैठे-ठाले क्यो मुझे आप अपने भटके हुए मन से बाँधकर अपने अचेतन में बन आये खालीपन को मुझसे भरना चाह रही हैं।

हर व्यक्ति का अपना व्यक्तित्व होता है। आपने पत्र मे बताया कि आपके एक सुन्दर बच्चा, स्वस्थ पति और भरा-पूरा घर है और आर्थिक अभाव भी नही है। फिर भी लगता है, आप कही से टूटी हुई हैं और यही मन की टूटन आपके मन को व्यर्थ में भटका रही है। हो सकता है उर्मिलाजी उनमे भी कुछ कमियाँ
और यह कमियाँ ही आपकी सुखी गृहस्थी मे काँटों भरी चुभन का काम कर
असुविध।लेकिन कमियाँ किस व्यक्ति में नही होती? मात्र कुछ कमियों या
आप विश्वास्ति का मूल्यांकन करना कोई अच्छी बात नही।
धुन के कारण मेरी पत्नी भी। मुझमे भी ढेर-सी कमियाँ हैं। लिखने की मेरी
प्यार के लिए कई बार तरस जाते हैं। उन्हें

हमेशा शिकायत बनी रहती है। लेकिन यह सब होते हुई भी, एक दूसरे के प्रति समर्पित भाव के साथ मेरी गृहस्थी चल रही है।

यकीन कीजिए, उर्मिलाजी, हर व्यक्ति आज किसी न किसी अभाव से ग्रस्त है लेकिन इन अभावो से जूझते हुए ही आगे बढ़ना जिन्दगी है।

मैंने एक दिन अपनी खिड़की के अधखुले पल्ले से आपके कमरे की ओर देखा। आपके पलंग पर सैक्स-अपराध की सच्ची कहानियो की एक पत्रिका रखी हुई थी। आप शायद इन्ही मे सुख-सन्तोष ढूंढ़ रही हैं।

लगता है, आपको बस इसी गलत साहित्य ने भटका रखा है। मेरा सुझाव है कि आप इस प्रकार के किस्से-कहानियो से अपने को बचायें, क्योकि ऐसी पत्रिकाएँ, जहाँ हमें गलत दिशा मे विचरने पर मजबूर करती हैं वही हमारे नैतिक स्तर को भी गिरा देती हैं। हमें जिन्दगी से निराश करती है। और कभी-कभी सुखी पारिवारिक जीवन को नष्ट कर डालती हैं।

ऐसा साहित्य पढ़ें जो मन को स्वस्थ रखे।

उर्मिलाजी, आप व्यर्थ मे अपनी आस्था को न तोड़ें। इस आस्था को अपने परिवार के लिए समर्पित कर, उसी में अपनी खुशियाँ तलाशें। और अपने मन की चंचलता को अनुशासित रखें।

हाँ, आप तो बच्चों को सही दिशा देने की बात कर रही हैं, पर स्वय भटक रही हैं। कैसी विडम्बना है?

मुझे आशा है आप जरूर मेरे सुझावो पर विचार करेगी। और भविष्य मे सही स्वस्थ मन से जीयेंगी।

आप अपने सुखद और सुन्दर भविष्य के लिए मेरी मंगल कामना स्वीकारें।

आपने मेरी रचनाओ को जो स्नेह दिया, उसके लिए फिर से आपका आभारी हूँ।

आपका साथी
सुमित

तीन दिन बाद सुमित ने एक शाम सामने खिड़की खोलकर देखा। उर्मिला छत पर खडी अपने धुले बालो को तौलिए से फटकारा मारकर झाड़ रही थी। जब उसने गर्दन उठाकर झटके से बाल पीछे किये तो उससे निगाह जुड़ गई। वह पत्र की प्रतिक्रिया जानना चाहता था।

उसकी आँखों में शर्मिन्दगी अटकी हुई थी। जिसमें अपराध बोध के भाव थे। वह नमस्कार करके अपने कमरे मे चली गयी, बोली कुछ नही। वह सोचता रहा, शायद आजकल मे पत्र द्वारा कोई प्रतिक्रिया प्राप्त हो।

वह दूसरे दिन स्कूल पहुँचा तो मालूम हुआ कि उसका प्रमोशन यहाँ से करीब

अस्सी किलोमीटर दूर एक हायर सैकण्डरी स्कूल में हो गया है।

सुमित ने परसों ही जाने का निश्चय कर लिया। जब वह अपने ठौर पर लौटा तो मन विदाई के भारी क्षणों में उदास था। उदासी दूर करने के लिए जब वह चाय पी रहा था तो सामने उर्मिला नजर आ गयी। उसका मन हुआ उससे सब बातें कहे और अपने प्रमोशन की खबर देकर उसे बता दे कि वह परसों जा रहा है। वह अभी बात करने की सोच ही रहा था कि तभी उसने सुना—'सुमितजी, सुना है आपका प्रमोशन हो गया है।'

'जी, हाँ। और परसों ही आप लोगों से विदा भी ले रहा हूँ।'

'नहीं, इतनी जल्दी नहीं।' वह आग्रह करने लगी।

'प्रमोशन का मामला है न इसलिए जल्दी ही जाना चाहता हूँ।'

'सुनिये सुमितजी कल सुबह की चाय आप यहीं लेंगे।' उर्मिला के आमत्रण को उसने मुस्कराकर स्वीकृति दे दी।

उर्मिला के कमरे में सुमित पहली बार गया था। कमरा एकदम स्वागत कक्ष बना हुआ था।

उर्मिला उसे देखते ही किचन में दौड़ी गई।

'बैठियेगा दो मिनट। अभी चाय लिए आ रही हूँ।'

सुमित टेबिल पर रखी नयी पत्रिका का अंक देखने लगा।

वह चाय नाश्ता लिए सुमित के सामने बैठ गयी। कुछ क्षण तो चुप्पी बनी रही फिर बोली, 'मुझे माफ कर दीजियेगा, सुमितजी। मैं पता नहीं क्यों भटकन महसूस कर ऐसा कुछ लिख गयी। आपके पत्र ने मुझे जो स्वस्थ दिशा दी है, उसके लिए सदा आपकी आभारी रहूँगी। सच सुमितजी, आपने मुझे जीने की नयी उमंग दी है। मुझे आपने सुख लौटाया है। मैं बहुत खुश हूँ, बहुत...'

'अरे चाय ठंडी हो रही है। लीजिये न।' उर्मिला ने सुमित की ओर चाय का प्याला बढ़ाते हुए कहा।

'जरा ठहरिये! पहले अपने प्रमोशन का मीठा मुँह तो कर लीजिये।' उर्मिला ने रसगुल्ले की प्लेट सुमित की ओर बढ़ा दी।

चाय के बाद उर्मिला ने अपने परिवार का एलबम दिखलाकर परिचित करवाया सुमित को। हँसता-खेलता पुत्र, बेडमिंटन खेलते स्मार्ट पति, देवर, ननद, सास और ससुर...सब कुछ तो उसके पास है।

सुमित को खुशी हुई कि उर्मिला फिर से अपने परिवार में स्वस्थ मन से जुड़कर अपनी खुशियाँ तलाश रही है। अच्छी पत्रिकाओं ने उसके कमरे में स्थान पा लिया है।

'अच्छा, उर्मिला! इजाजत दीजियेगा। आज ही स्कूल से कार्य मुक्त होना है और सुबह ही आठ वाली बस से प्रस्थान करना है।'

सुमित जाने को हुआ तो उर्मिला ने हाथ जोडकर विदा देते हुए कहा, 'अच्छा, सुमितजी, मुझे माफ कर दिया न आपने ? मैं आपसे वादा करती हूँ, अब कभी भी आस्था को बंटने नहीं दूंगी। अपने परिवार मे ही खुशियां तलाशती जीऊँगी। आपने जो दिशा-बोध दिया है, उसके लिए मैं सदा आपकी ऋणी रहूँगी।'

'मुझे आज बहुत खुशी हो रही है कि आपने मेरे सुझावों को स्वीकारते हुए स्वस्थ मन से जीने का निश्चय कर लिया है। आप अपने परिवार सहित सुखी व सानंद रहें।' सुमित ने दरवाजा छोड़ते हुए प्रसन्नता प्रकट की। एक मिनट ठिठका सुमित, और फिर उर्मिला के द्वारा लिखे पत्र को उसे लौटाते हुए कमरे से बाहर हो गया।

●●●

अस्सी किलोमीटर दूर एक हायर सैकण्डरी स्कूल में हो गया है।

सुमित ने परसों ही जाने का निश्चय कर लिया। जब वह अपने ठौर पर लौटा तो मन विदाई के भारी क्षणों में उदास था। उदासी दूर करने के लिए जब वह चाय पी रहा था तो सामने उर्मिला नजर आ गयी। उसका मन हुआ उससे सब बातें कहे और अपने प्रमोशन की खबर देकर उसे बता दे कि वह परसों जा रहा है। वह अभी बात करने की सोच ही रहा था कि तभी उसने सुना—'सुमितजी, सुना है आपका प्रमोशन हो गया है।'

'जी, हाँ। और परसों ही आप लोगों से विदा भी ले रहा हूँ।'

'नहीं, इतनी जल्दी नहीं।' वह आग्रह करने लगी।

'प्रमोशन का मामला है न इसलिए जल्दी ही जाना चाहता हूँ।'

'सुनिये सुमितजी कल सुबह की चाय आप यहीं लेंगे।' उर्मिला के आमंत्रण को उसने मुस्कराकर स्वीकृति दे दी।

उर्मिला के कमरे में सुमित पहली बार गया था। कमरा एकदम स्वागत कक्ष बना हुआ था।

उर्मिला उसे देखते ही किचन में दौड़ी गई।

'बैठियेगा दो मिनट। अभी चाय लिए आ रही हूँ।'

सुमित टेबिल पर रखी नयी पत्रिका का अंक देखने लगा।

वह चाय नाश्ता लिए सुमित के सामने बैठ गयी। कुछ क्षण तो चुप्पी बनी रही फिर बोली, 'मुझे माफ कर दीजियेगा, सुमितजी। मैं पता नहीं क्यों भटकन महसूस कर ऐसा कुछ लिख गयी। आपके पत्र ने मुझे जो स्वस्थ दिशा दी है, उसके लिए सदा आपकी आभारी रहूँगी। सच सुमितजी, आपने मुझे जीने की नयी उमंग दी है। मुझे आपने सुख लौटाया है। मैं बहुत खुश हूँ, बहुत···'

'अरे चाय ठंडी हो रही है। लीजिये न।' उर्मिला ने सुमित की ओर चाय का प्याला बढाते हुए कहा।

'जरा ठहरिये! पहले अपने प्रमोशन का मीठा मुँह तो कर लीजिये।' उर्मिला ने रसगुल्ले की प्लेट सुमित की ओर बढ़ा दी।

चाय के बाद उर्मिला ने अपने परिवार का एलबम दिखलाकर परिचित करवाया सुमित को। हँसता-खेलता पुत्र, बेडमिंटन खेलते स्मार्ट पति, देवर, ननद, सास और ससुर···सब कुछ तो उसके पास है।

सुमित को खुशी हुई कि उर्मिला फिर से अपने परिवार में स्वस्थ मन से जुड़कर अपनी खुशियाँ तलाश रही है। अच्छी पत्रिकाओं ने उसके कमरे में स्थान पा लिया है।

'अच्छा, उर्मिला! इजाजत दीजियेगा। आज ही स्कूल से कार्य मुक्त होना है और सुबह ही आठ वाली बस से प्रस्थान करना है।'

सुमित जाने को हुआ तो उर्मिला ने हाथ जोड़कर विदा देते हुए कहा, 'अच्छा, सुमितजी, मुझे माफ कर दिया न आपने ? मैं आपसे वादा करती हूँ, अब कभी भी आस्था को बंटने नही दूंगी। अपने परिवार में ही खुशियां तलाशती जीऊँगी। आपने जो दिशा-बोध दिया है, उसके लिए मैं सदा आपकी ऋणी रहूँगी।'

'मुझे आज बहुत खुशी हो रही है कि आपने मेरे सुझावो को स्वीकारते हुए स्वस्थ मन से जीने का निश्चय कर लिया है। आप अपने परिवार सहित सुखी व सानंद रहे।' सुमित ने दरवाजा छोड़ते हुए प्रसन्नता प्रकट की। एक मिनट ठिठका सुमित, और फिर उर्मिला के द्वारा लिखे पत्र को उसे लौटाते हुए कमरे से बाहर हो गया।

●●●

सम्पर्क-सूत्र

1. चुन्नीलाल भट्ट व्याख्याता—मु० पो० जेठाना (डूंगरपुर)
2. कमला गोकलानी—31 तिलोक नगर, अजमेर-305001
3. जगदीश प्रसाद सैनी, प्र० अ०—रा० मा० वि० प्रीतमपुरी (सीकर)
4. माधव नागदा, व्याख्याता—रा० उ० मा० वि० राजसमन्द (उदयपुर)
5. निशान्त द्वारा बसन्तलाल हेमराज, पीलीबंगा (श्रीगंगानगर)
6. वासुदेव चतुर्वेदी, अनुसंधान सहायक, एस०आई०ई०आर०टी०—सहेलीमार्ग, उदयपुर
7. देव प्रकाश कौशिक, व्याख्याता—रा० उ० मा० वि० सैपऊ (धौलपुर)
8. विशन स्वरूप वर्मा—रा० मा० वि० धानमण्डी, उदयपुर
9. सत्य शकुन, व्याख्याता—हनुमानहत्था, बीकानेर
10. भगवती लाल व्यास—35, खारोल बस्ती, फतहपुरा, उदयपुर
11. ब्रजेश चंचल—481, शास्त्री नगर, दादाबाड़ी, कोटा
12. ब्यूला एस० कुमार—रा० प्रा० वि० ओडान चौक, ब्यावर (अजमेर)
13. पुष्पलता कश्यप—हनुमान मन्दिर, कचहरी पोस्ट आफिस के पास, जोधपुर
14. छगन लाल व्यास—रा० मा० वि० खाडप (बाड़मेर)
15. जनक राज पारीक, प्रधानाचार्य—ज्ञान ज्योति उ० मा० वि० श्रीकरणपुर-335073
16. नील प्रभा भारद्वाज—56 एम० ब्लाक, श्रीगंगानगर
17. सुदर्शन राघव—प्रथम डी/107 जयनारायण व्यास कॉलोनी, बीकानेर
18. अरनी रॉबर्ट्स—रा० मा० वि० सोप वाया शहर (सवाईमाधोपुर)
19. मुकारब खान 'आजाद'—मु० पो० धनकोली (नागौर)
20. मोहन लाल सूत्रधार—अध्यापक रा० उ० प्रा० वि० चूली वाया विशाला (बाड़मेर)
21. श्याम सुन्दर भारती—फतेह सागर, जोधपुर
22. महेश कुमार चतुर्वेदी—रा० उ० प्रा० वि० छोटी सादडी (चित्तौड़गढ़)
23. विष्णु प्रसाद चतुर्वेदी, व्याख्याता—36 पालीवालों का बास, पाली
24. शिव मृदुल—बी-8 मीरानगर, चित्तौड़गढ
25. पी० राज 'निराश'—रा० मा० वि० आसोतरा (बाड़मेर)
26. अर्जुन अरविन्द—काली पल्टन रोड, टोंक
27. ओम पुरोहित 'कागद'—24-दुर्गा कॉलोनी, हनुमानगढ संगम-335512
28. चन्द्र कला पारीक—ज्ञानज्योति उ० प्रा० वि० श्रीकरणपुर-335073
29. रघुनन्दन त्रिवेदी—चांदपोल, चौक, जोधपुर
30. जितेन्द्रशंकर बजाड़—मु० पो० भीचोर-312022
31. सुषमा अग्निहोत्री—राज० जयसिंह उ० मा० वि० खेतडी
32. बुलाकी दास बावरा—धोबीधोरा, सूरसागर के पास, बीकानेर
33. दिनेश विजयवर्गीय—बी-215 रजतगृह कॉलोनी, बूंदी-323001

शिक्षक दिवस प्रकाशनों की सूची

वर्ष 1967 से 1973 तक इस योजना के अन्तर्गत 31 सकलन प्रकाशित किये गये हैं। ये 31 प्रकाशन शिक्षा निदेशालय के प्रकाशन अनुभाग ने सम्पादित किये थे। 1974 से सकलनों का सम्पादन भारतीय ख्याति के लेखकों से करवाया गया। बाद के सम्पूर्ण सकलनो का विवरण इस प्रकार है—

1974 : 'रोशनी बाँट दो' (कविता) सं० रामदेव आचार्य, 'अपने आसपास' (कहानी) सं० मणि मधुकर, 'रंग-रग बहुरंग' (एकाकी) स० डॉ० राजानन्द, 'आँधी अर आस्था' व 'भगवान महावीर' (दो राजस्थानी उपन्यास) सं० यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र', 'बारखड़ी' (राजस्थानी विविधा) सं० वेद व्यास।

1975 : 'अपने से बाहर अपने मे' (कविता) सं० मगल सक्सेना, 'एक और अतरिक्ष' (कहानी) सं० डॉ० नवलकिशोर, 'संभाळ' (राजस्थानी कहानी) स० विजयदान देथा, 'स्वर्ग भ्रष्ट' (उपन्यास) ले० भगवती प्रसाद व्यास सं० डॉ० रामदरश मिश्र, 'विविधा' सं० राजेन्द्र शर्मा।

1976 : 'इस बार' (कविता) सं० नन्द चतुर्वेदी, 'संकल्प स्वरों के' (कविता) स० हरीश भादानी, 'बरगद की छाया' (कहानी) सं० डॉ० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, 'चेहरे के बीच' (कहानी व नाटक) सं० योगेन्द्र किसलय, 'माध्यम' (विविधा) सं० विश्वनाथ सचदेव।

1977 : 'सृजन के आयाम' (निबन्ध) स० डॉ० देवीप्रसाद गुप्त, 'वयो' (कहानी व लघु उपन्यास) स० श्रवण कुमार, 'चेते रा चितराम' (राजस्थानी विविधा) सं० डॉ० नारायणसिंह भाटी, 'समय के संदर्भ' (कविता) स० जुगमन्दिर तायल, 'रंग वितायन' (नाटक) सं० सुधा राजहस।

1978 : 'अँधेरे के नाम संधि-पत्र नहीं' (कहानी संकलन) सं० हिमांशु जोशी, 'लखाण' (राजस्थानी विविधा) सं० रावत सारस्वत, 'रचेगा सगीत' (कविता संकलन) सं० नन्द किशोर आचार्य, 'दो गाँव' (उपन्यास) लेखक मुकारब खान आजाद, सं० डॉ० आदर्श सक्सेना, 'अभिव्यक्ति की तलाश' (निबन्ध) सं० डॉ० रामगोपाल गोयल।

1979 : 'एक कदम आगे' (कहानी संकलन) सं० ममता कालिया, 'लगभग जीवन' (कविता सकलन) सं० लीलाधर जगूड़ी, 'जीवन यात्रा का कोलाज/न० ?' (हिन्दी विविधा) सं० डॉ० जगदीश जोशी, 'कोरणी कलम री' (राजस्थानी विविधा) सं० अन्नाराम सुदामा, 'यह किताब बच्चों की' (बाल साहित्य) सं० हरिकृष्ण देवसरे।

1980 : 'पानी की लकीर' (कविता संकलन) सं० अमृता प्रीतम, 'प्रयास' (कहानी सकलन) स० शिवानी, 'मजूषा' (हिन्दी विविधा) स० राकेश जैन, 'अतस रा आखर' (राजस्थानी विविधा) स० नृसिह राजपुरोहित, 'खिलते रहें गुलाब' (बाल साहित्य) स० जयप्रकाश भारती।

1981 : 'अँधेरों का हिसाब' (कविता संकलन) स० सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, 'अपने से परे' (कहानी संकलन) स० मन्नू भण्डारी, 'एक दुनिया बच्चों की' (बाल साहित्य) सं० पुष्पा भारती, 'सिरजण' (राजस्थानी विविधा) सं० तेजसिंघ जोधा, 'वन्दे मातरम्' (हिन्दी विविधा) स० विवेकी राय।

1982 : 'धर्मक्षेत्रे : कुरुक्षेत्रे' (कहानी सकलन) सं० मृणाल पाण्डे, 'कौमी एकता की तलाश और अन्य रचनायें' (हिन्दी विविधा) स० शिवरतन थानवी, 'अपना-अपना आकाश' (कविता संकलन) स० जगदीश चतुर्वेदी, 'कूंपळ' (राजस्थानी विविधा) सं० कल्याण सिंह शेखावत, 'फूलों के ये रंग' (बाल साहित्य) सं० लक्ष्मीचन्द्र गुप्त।

1983 : 'भीतर-बाहर' (कहानी संकलन) स० मृदुला गर्ग, 'रेती के रात-दिन' (हिन्दी विविधा) सं० प्रभाकर माचवे, 'घायल मुट्ठी का दर्द' (कविता सकलन) स० डॉ० प्रकाश आतुर, 'पांखुड़ियाँ माटी की' (बाल साहित्य) सं० कन्हैयालाल नन्दन, 'हिवड़े रो उजास' (राजस्थानी विविधा) स० श्रीलाल नथमल जोशी।

1984 : 'अपना-अपना दामन' (कहानी सकलन) सं० मंजुल भगत, 'वस्तु स्थिति' (कविता सकलन) सं० गिरधर राठी, 'सचयनिका' (विविधा) सं० याज्ञवल्क्य गुरु, 'फूल सारू पाखड़ी' (राजस्थानी) सं० शक्तिदान कविया, 'सारे फूल तुम्हारे हैं' (बाल साहित्य) सं० स्नेह अग्रवाल।

1985 : 'रास्ते अपने-अपने' (कहानी संग्रह) सं० राजेन्द्र अवस्थी, 'सुनो ओ नदी रेत की' (कविता सग्रह) स० बलदेव वंशी, 'मरु अचल के फूल' (हिन्दी विविधा) सं० कमल किशोर गोयनका, 'माणक चोक' (राजस्थानी विविधा) स० मनोहर शर्मा।

1986 : 'ढाई अक्खर' (कहानी सग्रह) स० आलम शाह ख़ान, 'रेत का घर' (कविता सग्रह) सं० प्रकाश जैन, 'रेत के रतन' (बाल साहित्य) सं० मनोहर प्रभाकर, 'रेत रो हेत' (राजस्थानी विविधा) स० हीरालाल माहेश्वरी, 'बूंद-बूंद स्याही' (गद्य विविधा) स० पुरुषोत्तम लाल तिवारी।

●



आलम शाह ख़ान

जन्म : 31 मार्च 1936, उदयपुर

शिक्षा : एम० ए०, पी-एच० डी०

संपर्क : 'आँगन छाया' 23, सुन्दरवास, उदयपुर
राजस्थान-313001

'आलम शाह ख़ान निर्विवाद रूप से राजस्थान के विशिष्ट रचनाकार हैं। हिन्दी के समकालीन रचनाकारों की बात करते समय उन्हें नजर अंदाज़ करना मुश्किल है। इस दृष्टि से वह राजस्थान के ही नहीं, पूरे हिन्दी प्रदेश के रचनाकार हैं।

आलम शाह ख़ान ऊपर से मस्तमौला किस्म के आदमी लगते हैं— सदा हँसते-हँसाते रहने वाले। लेकिन उनकी गिद्ध-दृष्टि मजाक़ के वक्त भी अपने आसपास को ताड़ती-लताड़ती रहती है और उनके मन के कोमल तंतु निरन्तर कांपते और प्रभाव ग्रहण करते रहते हैं। इसका पता उनकी कहानियाँ पढ़ने से चलता है। इतना सजग और सवेदनशील व्यक्ति जब कहानी लिखता है तो उसकी टीस 'किराये की कोख' का सृजन करती है और गिद्ध-दृष्टि 'आवाज़ की अरथी' जैसी अर्थपूर्ण कहानियाँ पैदा करती है—उसकी भाषा में एक परिश्रमी कलाकार का पसीना बोलता है और उसकी सूक्ष्म-निरीक्षण शक्ति दूसरे रचनाकार के लिए ईर्ष्या का विषय हो सकती है।'

—स्वयं प्रकाश

राजस्थान के कृतिकार—राजस्थान साहित्य अकादमी उदयपुर से उद्धृत